मोहन राकेश की रचनाओं में आत्मनिर्वासन के तत्व—एक अध्ययन
A STUDY OF THE ELEMENTS OF ALIENATION IN THE WORKS OF MOHAN RAKESH

Thesis submitted to
THE UNIVERSITY OF COCHIN

for the degree of
DOCTOR OF PHILOSOPHY

By
मोहनन एन.
MOHANAN N.

Prof. & Head of the Department
Dr. N. RAMAN NAIR

Supervisor
Prof. (Dr.) A. RAMACHANDRA DEV

DEPARTMENT OF HINDI
UNIVERSITY OF COCHIN
COCHIN - 682 022
1983

CERTIFICATE

This is to certify that this THESIS is a bonafide record of work carried out by A. [illegible] under my supervision for Ph.D. and no part of this has hitherto been submitted for a degree in any University.

PROF.(DR) A.RAMACHANDRA
(Supervising teacher)

Dept. of Hindi,
University of Cochin,
Cochin Pin 682022.
Date : 19 03 1983

CERTIFICATE

This is to certify that this THESIS is a bonafide record of work carried out by [illegible] under my supervision for Ph.D. and no part of this has hitherto been submitted for a degree in any University.

PROF.(DR) A.RAMACHANDRA DEV
(Supervising teacher)

Dept. of Hindi,
University of Cochin,
Cochin Pin 682022.
Date : 19 03 1983

ACKNOWLEDGEMENTS

This work was carried out in the Department of Hindi, University of Cochin, Cochin-22, during the tenure of scholarship awarded to me by the Cochin University. I sincerely express my gratitude to the Cochin University for this help and encouragement.

Department of Hindi,
University of Cochin
Cochin, Pin 682022
Date : 19 03 1983.

N. MOHANAN

पुरोवाक्

पुरोवाक्

आत्मनिर्वासन पर हिन्दी में अभी तक कोई विशेष चर्चा नहीं हुई है। हिन्दी साहित्य के नये इतिहास का अध्ययन यह विदित करा देता है कि समसामयिक सामाजिक परिवर्तन की स्थूल समस्याएं ही साहित्य का विषय रही हैं। स्थूल दृष्टि साहित्य के मर्म को पकड़ने में असमर्थ ही रहती है। आत्मनिर्वासन एक अनिवार्य मानवीय स्थिति है। वह समसामयिक परिवर्तनों और आन्दोलनों से उत्पन्न होनेवाली स्थूल समस्या नहीं। इसको समझने और अनुभव करने केलिए सूक्ष्म दृष्टिकोण तथा बौद्धिक चिंतन की अनिवार्य आवश्यकता है।

स्वाधीनता परवर्ती हिन्दी साहित्य में कहीं कहीं आत्मनिर्वासन-संबन्धी चिंतन की झलक पायी जाती है। पर स्वाधीनता प्राप्ति के उपरान्त चार दशक तय करने पर भी हिन्दी साहित्य आत्मनिर्वासन का सैद्धांतिक विवेचन या उस पर पर्याप्त चिंतन नहीं कर पाया। इस विषय पर प्रकाशित लेख जो उपलब्ध हैं वह स्वतंत्र चिंतन के फल नहीं है। अतः उनका भी महत्व संदिग्ध है।

डॉ॰ रमेश कुन्तल मेघ के "आधुनिकता बोध और आधुनिकीकरण" नामक ग्रंथ में आत्मपरायापन पर दो लेख उपलब्ध है। प्रथम लेख का शीर्षक है "आत्मपरायेपन की धारणा: अकेली भीड़ और अजनबी इनसान तथापि "आत्म आधिपत्य"।

दूसरा है "समसामयिक परिदृश्य में भारतीय बुद्धिजीवियों का आत्मपरायापन ।" प्रथम निबंध में आत्मपरायापन [एलियनेशन] का समर्थ सैद्धान्तिक विवेचन है । लेखक का निष्कर्ष है "परायेपन के उन्मूलन के बिना मनुष्य की स्वतंत्रता, और न ही एक मानवीय समाज की आधुनिक रचना संभव है ।" उनकी स्थापना है परायेपन का उन्मूलन करना समाजवाद का बुनियादी मिशन है । यह कार्य समाजवादी क्रान्ति द्वारा ही संभव होता है । परायापन प्राकृतिक तथा ऐतिहासिक दोनों है ।

दूसरे निबन्ध में भारतीय बुद्धिजीवियों के आत्मपरायापन का विवेचन है । इसमें भी लेखक यह स्थापित करते हैं कि आधुनिक बोध के केवल सांस्कृतिक पक्ष को लेने पर ही विसंगति तथा सन्दर्भहीनता उभरती है । सांस्कृतिकीकरण, सामाजिकीकरण और राजनीतिकीकरण का सामंजस्य आधुनिक बोध की समग्रता में वर्तमान है । यह बोध शोषण और अमानवीयकरण पर विजय पा सकता है । अमानवीयकरण आत्मपरायेपन का संचार करता है । स्पष्ट है लेखक आत्मपरायेपन के सम्बन्ध में मार्क्सवादी दृष्टि को प्रामाणिक रूप से अपना लेते हैं । आत्मनिर्वासन उनकी दृष्टि में रुग्ण मनस्थिति का परिणाम है उसका निराकरण सामाजिक विकास केलिए आवश्यक है । परन्तु मार्क्स के उपरान्त सार्त्र जैसे अनेक विचारकों ने आत्मपरायेपन को एक अनिवार्य स्थिति के रूप में स्वीकार किया है । इतिहास इसका साक्षी है कि तथाकथित समाजवादी व्यवस्था में भी व्यक्ति के रूप में मनुष्य अपने को अकेला पाता है । अपने ऊपर आधिपत्य जमा लेना उसकेलिए असंभव हो जाता है । यह अनुभव की बात है । इसकी प्रगाढ़ता ने आत्मनिर्वासन को गंभीरतापूर्वक अध्ययन का विषय बनाने की अनिवार्यता स्थापित की है ।

उक्त दोनों लेखों में सृजनात्मक प्रतिभा के साथ न्याय नहीं किया गया है । पर सैद्धान्तिक स्तर पर केवल ये ही लेख हिन्दी में उपलब्ध हैं । यह उनकी महत्ता का एक कारण भी है । आनुषंगिक ढंग से किए गए कुछ संक्षिप्त उल्लेख कहीं कहीं मिलते अवश्य हैं । पर सृजनात्मक प्रतिभा के सन्दर्भ में उसका सैद्धान्तिक विवेचन हिन्दी में प्राय: हुआ ही नहीं । यही हमारे उद्यम की उपपत्ति है । मोहन राकेश जैसी सृजनात्मक

प्रतिभा की अन्तरात्मा को प्रदीप्त करनेवाली मूल समस्या को समझने और विश्लेषित करने केलिए पक्षधरता विहीन स्वच्छन्द मानसिकता की अनिवार्य आवश्यकता है । इस उद्देश्य से मैं ने इसे अपने शोध का विषय चुन लिया । इस शोध प्रबन्ध में आत्मनिर्वासन को विभिन्न कोणों से देखा परखा गया है ।

कालजयी साहित्य में जीवन की त्रासदी का स्पन्दन ही मिलता है । जीवन की गहराई से देखने पर सबसे बड़ी सच्चाई उसकी त्रासद परिणति है । उसका यथार्थ चित्रण करनेवाली रचनाएं काल के अनस्यूत प्रवाह में भी अटल रहती हैं । युग-युगों के बाद भी वे अपने नयपन को बनाए रखती हैं । अतएव प्राचीन ग्रीक साहित्याचार्यों ने त्रासदी को काव्य का प्रकृष्टतम रूप माना । इसी कारण ग्रीक ट्रैजिड्यां अब भी नवीन बनी रहती हैं । उनमें मनुष्य की सार्वकालिक समस्याओं का संगुंफन हुआ है । आधुनिक अस्तित्ववादी चिंतक कामु ने इसलिए सिसिफस में जीवन की विसंगति को ढूंढ लिया है ।

शेक्सपीयर के शुभांत नाटकों की अपेक्षा दु:खान्त नाटक अधिक जीवंत है । यह क्यों ? इसलिए कि उन रचनाओं की जो अन्तर्धारा है वे मानव जीवन की वास्तविकता के कूलों को टकराते हुए पाठक-मन की अन्त:दृष्टि को खोल देती हैं । उनमें जीवन की वास्तविकता का स्पन्दन है । ये स्पन्दन उन्हें काल की सीमाओं से बाहर लाते हैं । विश्वसाहित्य के सभी "क्लासिक" इसकेलिए पर्याप्त मिसाल हैं ।

भारत में महाभारत, रामायण का प्रभाव अब भी ताजा रहता है । इनमें उच्च चरित्रवाले महान पात्रों के सुख-दु:ख का चित्रण तो अवश्य हुआ है । रामायण में राम-सीता, महाभारत में पांडव,कृष्ण आदि पात्र जीवन की भीषण परिस्थितियों का सामना करते हैं । विसंगति से संघर्ष करते हुए अंत में वे विजय [1] प्राप्त करते है जीवन-संघर्ष के उपरान्त सुन्दर तथा कल्पनानुकूल भविष्य की प्राप्ति संभव है या नहीं, इस पर चर्चा यहाँ वांछित नहीं । लेकिन रामायण और महाभारत जैसे भारतीय क्लासिक यदि असल में शुभ पर्यवसायी ही हैं तो उसका क्या कारण है ?

इसीलिए कि कल्याण पथ के पथिक का दु:खद अन्त भारत में असंभव समझा जाता था यद्यपि प्रत्यक्ष अनुभव इसका समर्थन नहीं करता । और संभवत: मनुष्य मन में जीवन के प्रति आस्था बढ़ाने केलिए उच्च चरित्रों की उन्नति और नीच चरित्रों की अवनति का चित्रण होता रहा । जो भी हो, इसमें सन्देह नहीं हो सकता कि ये महान पात्र भी निरंतर विसंगति के शिकार रहे हैं और जीवन की पीड़ाओं से अतिमात्र संत्रस्त भी ।

महाकवि कालिदास की रचनाओं की मूल चेतना वास्तव में उनका भोगा हुआ यथार्थ ही थी । दुष्यन्त और शकुन्तला विसंगति के शिकार नहीं हैं? ज़िन्दगी में मनोरम कल्पनाएं संजोते हुए एक बन जाने की उनकी अभिलाषा एक ही क्षण में टूट जाती है, और दोनों अपरिचित बन जाते हैं । इससे बढ़कर कैसी विसंगति हो सकती है? मेघदूत के विरह विमर्दित यक्ष की पीड़ा वास्तव में कवि की अपनी पीड़ा नहीं थी? उस असह्य पीड़ा से संत्रस्त यक्ष क्या आत्मनिर्वासित नहीं था?

रामायण-सृजन के मूल में जीवन की विसंगति का एहसास ही वाल्मीकि केलिए प्रेरक रहा । क्रौंच मिथुनों में से एक के हनन-पतन ने वाल्मीकि के हृदय को ऐसा बेध डाला कि वे ज़िन्दगी की विसंगति से एकदम अभिभूत हो उठे । उस कवि के आकुल अंतरंग का आहत स्पन्दन पूरे रामायण में व्याप्त है । इससे यह सिद्ध होता है कि जीवन स्वभावत: विसंगत है । विसंगति का मार्मिक चित्रण कृति को और कृतिकार को जीवन्त बनाता है । इलियट, ओडेस्सी, ओथल्लो, हेमलेट, रामायण, महाभारत, शाकुन्तल, मेघदूत जैसी कृतियां तथा होमर, शेक्सपीयर, वाल्मीकि, व्यास, कालिदास जैसे कृतिकार इसीलिए कालजयी बनकर विश्वसाहित्य को प्रदीप्त करते रहते हैं ।

विसंगति-बोध तथा तज्जन्य आत्मनिर्वासन एक समसामयिक समस्या नहीं । वह जीवन की मौलिक और चिरंतन समस्या है । हर मनुष्य इससे पीड़ित है । लेकिन सब इससे अवगत नहीं होते । पुराने ज़माने में बुद्धिजीवी ही इससे सचेत रहे हैं ।

साधारण जनता बौद्धिक-चिंतन केलिए सक्षम नहीं थी । वह ईश्वरीय सत्ता पर अपना सारा आश्रय छोड देती थी । अपनी सारी पराजय और विजय का कारण वह ईश्वर को समझ लेती थी । पर उस समय भी बुद्धिजीवी जीवन की विसंगति से, मनुष्य के अकेले होने की स्थिति से सचेत रहे हैं ।

आधुनिक युग में आम-जनता शिक्षा-संपन्न बन गयी । फलतः वह युक्तिपरक चिंतन करने लगी । हाथी-दांत के मीनारों से साहित्य जन साधारण के बीच आ गया । आम जनता अब अपने तथा जिन्दगी के बारे में पूर्वाधिक सचेत है । आधुनिक युग की हर परिस्थिति, परिवर्तन उसे संत्रस्त करता रहा । इस संत्रास के माहौल में वह अपने को अकेला पाती है । विसंगति को झेलते हुए मृत्युपर्यन्त जीने केलिए विवश आम जनता जीवन को निरर्थक पाती है । उसके सामने कोई आश्रय नहीं । पहले तो ईश्वर था । पर अब ? आधुनिक मनुष्य केलिए ईश्वर की सार्थकता सन्दिग्ध हो चुकी है । आश्रयहीन स्थिति में वह अपने को बेहद अभिशप्त पाता है । कहने का मतलब यह है कि आधुनिक युग में मनुष्य अपनी अभिशप्त स्थिति को तथा आत्मनिर्वासित अवस्था को समझने और अनुभव करने लगा है । परिणामतः आधुनिक साहित्य मनुष्य की यातनाओं और यंत्रणाओं का दस्तावेज बन गया । मोहन राकेश की प्रासंगिकता इस सन्दर्भ में अत्यधिक बढ जाती है ।

सन् साठ तक न जाने कितने नाटक हिन्दी में रचे गए । पर अधिकतर क्यों काल के अनन्त प्रवाह में बह गए ? इसीलिए कि उनमें प्रवाह में टिकने की शक्ति नहीं थी । अठावन में प्रकाशित राकेश के "आषाढ का एक दिन" ने हिन्दी नाट्य साहित्य को गहरी सुषुप्ति से जगा दिया । एक नयी दिशा, एक नई मानसिकता का शंखनाद करते हुए विश्व नाटक के क्षेत्र में हिन्दी नाटक ने अपना स्थान बना लिया । उसमें जीवन की वास्तविकता-विसंगति-का चित्रण है । "लहरों के राजहंस", "आधे अधूरे", "पैर तले की ज़मीन" जैसे अन्य नाटकों में भी राकेश ने विसंगति का, विसंगति से संघर्ष करनेवाले पात्रों का, और सहारा अकेले बने रहने केलिए अभिशप्त आधुनिक मानव का चित्र अंकित किया है ।

प्रेमचन्द के अन्य उपन्यासों की अपेक्षा गोदान क्यों अब भी चर्चित है ? उसका प्रमुख पात्र कोई अमानवीय शक्ति सम्पन्न धीरोदात्त नायक नहीं है । यथार्थ आदर्श की घोषणा उसमें नहीं है । जीवन के यथार्थ की पकड़ ही उसका मूल स्वर है । होरी की मृत्यु हिन्दी साहित्य के नायक-संकल्प के लिए एक बड़ा आघात थी । उस आघात ने हिन्दी साहित्य की आंखों से तिमिर को हटा दिया । राकेश के "अंधेरे बन्द कमरे", "न आनेवाला कल", "अंतराल" जैसे उपन्यास और उनकी कहानि इस तिमिर-मुक्त आंखों की देन हैं । ज़िन्दगी की घुटती हुई पीड़ा को मौन सहनेवा इनके पात्र आत्मनिर्वासित हैं । मानव-अस्तित्व की इस मूल समस्या को राकेश की रचनाओं के परिप्रेक्ष्य में मैं ने इस शोध का विषय बनाया है । यद्यपि एलियनेशन का दार्शनिक विवेचन विदेशी विद्वानों ने अवश्य किया है तथापि सृजनात्मक प्रतिभा के परिप्रेक्ष्य में उस का अध्ययन विदेशी भाषाओं में भी बहुत कम ही हुआ है । हिन्दी की स्थिति का उल्लेख ऊपर हो चुका । पर डा॰ रिचार्ड शाखट के एक महत्वपूर्ण ग्रंथ का विशेष उल्लेख करना चाहूँगा । मेरे इस प्रयत्न में डॉ॰ रिचर्ड शाखट का "एलियनेशन" नामक ग्रंथ बहुत अधिक सहायक रहा है । अतः मैं सबसे पहले डॉ॰ रिचर्ड शाखट के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ ।

राकेश-साहित्य पर कुछ आलोचनात्मक पुस्तकें उपलब्ध हैं जैसे डॉ॰ गोविन्द चातक का "आधुनिक नाटक का मसीहा मोहन राकेश", डॉ॰ गिरीश रस्तोगी का "मोहन राकेश और उनके नाटक", डॉ॰ सुन्दरलाल कथूरिया द्वारा संपादित "नाटककार मोहन राकेश", डॉ॰ जगदीश शर्मा का "मोहन राकेश की रंग सृष्टि", डॉ॰ पुष्पा बंसल का "मोहन राकेश का नाट्य साहित्य", डॉ॰ उर्मिला मिश्र का "आधुनिकता और मोहन राकेश", डॉ॰ सुषमा अग्रवाल का 'कहानीकार मोहन राकेश' और श्रीमती विमला कुमारी पंडित का "उपन्यासकार मोहन राकेश" । इनमें डॉ॰ गोविन्द चातक की पुस्तक "आधुनिक नाटक का मसीहा मोहन राकेश" को छोड़ कर अन्य पुस्तकों में मौलिक दृष्टिकोण का अभाव है । तटस्थ आलोचना की कमी है मोहन राकेश की सृजनात्मक प्रतिभा को समझने और उसका सही मूल्यांकन करने में वे लेखक प्रायः असमर्थ निकले हैं ।

घातक ने केवल राकेश के नाटकों पर ही विचार किया है। उसमें मौलिक दृ कोण है, पर उन्होंने भी राकेश की तथा राकेश के पात्रों की आत्मनिर्वासित स्थिति पर पर्याप्त चिंतन नहीं किया है। हाँ, व्यक्ति के अकेलापन पर कहीं कहीं छिटपुट उल्लेख उन्होंने अवश्य किया है। इसलिए राकेश को तथा उनकी रचना को आत्मनिव के धरातल पर परखने की सख्त ज़रूरत मुझे महसूस हुई। यह भी नहीं एम॰फिल॰ प्रोग्राम के सिलसिले में जब मैं ने मोहन राकेश के नाटक पर शोध-प्रबन्ध तैयार किया था उस समय से ही मेरे मन में आत्मनिर्वासन तथा राकेश की रचना पर काम करने की अभिलाषा बद्धमूल हो गई थी।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध पाँच अध्यायों में विभक्त है। पहला अध्याय "आत्मनिर्वा एक सैद्धांतिक विवेचन" है। इसमें आत्मनिर्वासन शब्द की व्युत्पत्ति से लेकर उसके समसामयिक अर्थ तक की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। पाश्चात्य तथा भारतीय परिवेश में आत्मनिर्वासन वाले अवबोध की प्रासंगिकता पर भी विचार-विमर्श किया गया है। इस अध्याय की प्रमुख स्थापना यह है कि आत्मनिर्वासन अन्य साहित्यिक प्रवृत्ति के समान समयगत नहीं, वह मानव जीवन की चिरस्थायी समस्या है।

"विसंगति-बोध" नामक दूसरे अध्याय में, "विसंगति-बोध" का विश्लेषण करने के उपरान्त राकेश साहित्य के विसंगति-बोध-ग्रस्त पात्रों की छानबीन की गई है। इसमें स्थापना यह है कि राकेश के पात्र अपनी परिस्थितियों में अनिवार्य रूप से विघ के शिकार बने हुए हैं।

"अस्मिता की खोज" शीर्षक तीसरे अध्याय में अस्मिता का विघटन तथा उससे बचने केलिए तड़पने वाले संत्रस्त पात्रों के विभिन्न परिस्थितियों की चर्चा है। विघ का एहसास ही व्यक्ति को अपने अस्तित्व पर शंकालु बना देता है। अस्तित्व संकट से ग्रस्त व्यक्ति अस्तित्व की तलाश करता है। यही अस्मिता की खोज है। राके के पात्र अपने स्व अथवा अस्मिता की तलाश में भटकने वाले हैं।

चौथे अध्याय में "राकेश की रचनाओं में आत्मनिर्वासन" है । इसमें पात्रों की आत्मनिर्वासित स्थिति का प्रमाणपुष्ट निरूपण है । अस्मिता की तलाश में पराजित होकर राकेश के प्राय: सभी पात्र आत्मनिर्वासन की अनिवार्य स्थिति को भोगने केलिए विवश बन जाते हैं । विवशता की यह स्थिति उनपर अध्यारोपित नहीं । वे स्वयं उसका वरण करते हैं ।

"आत्मनिर्वासित व्यक्तित्व राकेश" पाँचवाँ अध्याय है । इसमें राकेश के जीवन पर सूक्ष्मदृष्टि डाली गई है । राकेश के जीवनानुभवों तथा रचना की घटनाओं में बड़ा साम्य है । पात्रों के अनुभवों में उनके व्यक्तिगत अनुभवों का प्रतिबिम्ब मिलता है । जिन्दगी भर अकेले रहने केलिए अभिशप्त राकेश ने अपनी अभिशप्त स्थिति को ही रचनाओं में जीवन्त बनाया है ।

प्रथम अध्याय के सैद्धान्तिक विवेचन के उपरान्त राकेश की रचनाओं की मूल चेतना आत्मनिर्वासन को तीन अध्यायों में विश्लेषित किया गया है । ये हैं विसंगति बोध, अस्मिता की खोज और राकेश की रचनाओं में आत्मनिर्वासन । वास्तव में ये तीनों भिन्न स्थितियाँ नहीं हैं । एक ही अवस्था के तीन घटक हैं । विसंगति का एहसास ही एक व्यक्ति को आत्मनिर्वासित कर देता है । पर उसका सूक्ष्म विश्लेषण करने पर विसंगति से बचने का उसका प्रयत्न सामने आता है और बाद में वह उसमें पराजित होकर आत्मनिर्वासित हो जाता है । अतः इन्हें आत्मनिर्वास पर पहुँचने की सीढ़ियाँ नहीं मानिए । सूक्ष्म अध्ययन की सुविधा केलिए ही इसे ती अध्यायों में विभाजित किया गया है ।

कोचिन विश्वविद्यालय के आचार्य डॉ॰ए॰ रामचन्द्र देव जी के पाण्डित्यपूर्ण निर्देशन तथा अमूल्य सुझाव ही इस शोध प्रबन्ध की पूर्ति के दुर्घट मार्गों पर मेरे लिए पाथेय रहे हैं । उस महापण्डित गुरुवर के सामने मैं नतमस्तक हूँ । उस महावृक्ष से मैं ने ज्ञान की शीतल छाया पायी । उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करने का प्रयास ही एक दुस्साहस लगता है ।

विभाग के अध्यक्ष एवं आचार्य डॉ॰ एन॰ रामन नायर जी के प्रति मैं बहुत आभ हूँ। वे मुझे इस शोध-कार्य की संपूर्ति केलिए आवश्यक सहायता देते रहे हैं।

कोडन्चेरी सरकार कालेज के प्रिंसिपल प्रो॰ एम॰विजयन पिल्लै का मैं इस समय स्मरण कर रहा हूँ। वे भी मेरे इस प्रयत्न में बहुत सहायता देते रहे हैं। वहाँ के मेरे माननीय प्राध्यापक दोस्तों – श्री॰रामकृष्णन पामाट, श्री॰एम॰एन॰ कारश्शेरी, श्री॰पी॰ कोया, श्री॰सी॰के॰ अब्दुल्ला, श्री॰सी॰ कर्मचन्द्रन, श्री॰पी॰टी॰सुलैमान – के प्रति भी मैं अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। ये मुझे निरंतर प्रोत्साहन देते रहे तथा इसकी संपूर्ति में सहयोग भी।

पुस्तकालय की अध्यक्षा श्रीमती कुंजिक्कावुट्टि तंपुरान, सहायक श्री॰एम॰ए॰ असीस,के प्रति भी मैं बहुत आभारी हूँ, जिनके स्नेहपूर्ण सहयोग के बिना इस शोध कार्य की पूर्ति इतनी जल्दी शायदसंभव नहीं हो सकती थी।

कोचिन विश्वविद्यालय के अधिकारियों के प्रति भी मैं अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। उन्होंने मुझे छात्र-वृत्ति देकर आर्थिक संकट से बचा कर इस कार्य को पू बनाने की सहायता दी है।

हिन्दी विभाग,
कोचीन विश्वविद्यालय,
कोचीन - पिन 682022

एम॰ मोहनन

विषय - प्रवेश

पृष्ठ-संख्या

पहला अध्याय .... 1 - 40

आत्मनिर्वासन एक सैद्धान्तिक विवेचन

आत्मनिर्वासन शब्द - परिभाषा और व्याख्या - आत्मनिर्वासन की विभिन्न स्थितियाँ - प्लेटो - अरस्तु - हेगल - कीर्केगार्द - कार्ल जास्पर्स - हैडेगर - गब्रियल मार्सल - नीत्से - कामू - सार्त्र-मार्क्स - आत्मनिर्वासन की अपरिहार्यता - पाश्चात्य सन्दर्भ और आत्मनिर्वासन - भारतीय परिवेश - विभाजन - यान्त्रिक सभ्यता - हिन्दी साहित्य - प्रेमचन्द - अज्ञेय - भुवनेश्वर प्रसाद - मोहन राकेश - निष्कर्ष ।

दूसरा अध्याय 41 - 94

विसंगति - बोध

एब्सर्ड शब्द - विसंगति-बोध - आल्बेयर कामू - महायुद्ध और विसंगति बोध - मिथ आफ सिसिफस मार्टिन एस्लिन - अयनेस्को - विसंगति - बोध और साहित्य - स्वाधीनोत्तर भारत और विसंगति बोध - मोहन राकेश - अस्तित्व की तड़प - सही निर्णय पर न आ सकने की विवशता - प्रस्थान की अर्थहीनता - वापसी की अभिशप्तता - अनिश्चितता के बीचों बीच - अयाचित अवस्था की त्रासदी - निष्कर्ष ।

पृष्ठ-संख्या

तीसरा अध्याय 95 - 134

अस्मिता की खोज

अस्मिता - स्व की खोज - अस्मिता और विद्रोह
अस्मिता का विघटन - पाश्चात्य सन्दर्भ - युद्धोत्तर
पाश्चात्य साहित्य - भारतीय परिवेश और हिन्दी
साहित्य - राकेश की रचना और अस्तित्व संकट -
पारिवारिक विघटन - स्व केलिए आतुर एकांत
पथिक - आघातों पर आघात - पूर्णता की
तलाश करनेवाले कुछ आधे अधूरे - प्रयोग और प्रयोग -
असुरक्षा की यंत्रणा - निष्कर्ष ।

चौथा अध्याय .... 135 - 171

राकेश की रचनाओं में आत्मनिर्वासन

स्वतंत्रता-बोध - अन्तर्मन का विघटन और उससे उत्पन्न
स्वतंत्रता की तलाश - सम्बन्धों की टूटन और तज्जन्य
असुरक्षाबोध - गृहातुरता - अन्तरात्मा का ध्वंस और
घर की तलाश - सम्बन्धों का विघटन और नए की
खोज - सम्प्रेषणहीनता - निरर्थकता बोध - निष्कर्ष ।

पृष्ठ-संख्या

पाँचवाँ अध्याय .... 172 - 202

आत्मनिर्वासित व्यक्तित्व : मोहन राकेश

अन्तर्द्वन्द्व का अखाड़ा - जीवन की प्रथम मार्मिक घटना- अन्तर का रिसता बिन्दु - आघातों पर आघात - इस्तीफाओं का सिलसिला - वैवाहिक जीवन की असफलता और नए सम्बन्धों की स्थापना - साहित्य-क्षेत्र में राकेश - कहानियों में प्रतिबिम्बित राकेश - दूसरा आयाम : उपन्यास - अँधेरे बन्द कमरे - न आने वाला कल - अन्तराल - विकास की पराकाष्ठा: नाटक - आषाढ़ का एक दिन - लहरों के राजहंस - आधे अधूरे - पैर तले की ज़मीन - ज़िन्दगी के एकान्त पथिक - निष्कर्ष ।

उपसंहार .... 203 - 205

सन्दर्भ ग्रंथ सूची 206 - 213

पहला अध्याय

आत्मनिर्वासन एक सैद्धान्तिक विवेचन

पहला अध्याय

आत्मनिर्वासन : एक सैद्धान्तिक विवेचन

अंग्रेज़ी शब्द "एलियनेशन" लैटिन के "एलियेनियो" से व्युत्पन्न है ।[1] इसका अर्थ है "किसी वस्तु को कुछ अन्य बनाना, दूर ले जाना, अलग करना" ।

आत्मनिर्वासन शब्द

लेकिन इसके दो और मौलिक अर्थ भी स्वीकार किए जाते हैं । एक का सम्बन्ध कानून से है और दूसरे का चिकित्सा शास्त्र से । कानून में इसका अर्थ है जायदाद का हस्तान्तरण [ट्रान्स्मिटल] और चिकित्सा शास्त्र में मानसिक अस्वस्थता या विक्षिप्तता ।[2] दार्शनिकों, धार्मिकों, मनोवैज्ञानिकों तथा

---

1. The Latin orgin of Alienation is Alienatio. This noun derives i meaning from the verb alienare (to make some-thing another, to take away, remove) Richard Schacht - Alienation - p.1

1. अ. हिन्दी में "एलियनेशन शब्द के लिए अनेक शब्द प्रचलित हैं - अलगाव, अजनबीपन, आत्मनिर्वासन, आत्मपरायापन, बेगानापन, पृथकीकरण आदि । इन में आत्मनिर्वासन शब्द को इस प्रबन्ध में "एलियनेशन" के समानार्थी स्वीकार किया गया है । "एलियनेशन" के समूचे भाव और उसकी व्याप्ति को यही सर्वाधिक द्योतित करता है ।

2. The Latin word appears orginally to have had both a legal and a medical sense. In the legal sense it refer-s to the transmital of property, in the medical sense to mental disorder or derangement.
Marxism, Communism and Western Society - A Comparative Encyclopaedia, Vol.1, p.88

समाजशास्त्रियों ने द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त ही इसका प्रभूत मात्र में प्रयोग करना शुरू किया ।

हेगल ने अपने "फिनामिनालजी आफ स्पिरिट" में इस शब्द के लिए "एन्टफ्रेंडुंग" का प्रयोग किया है जिसका अर्थ है "एस्ट्रेंजमेंट" (अपरिचितत्व) । मार्क्स ने इस के लिए "एन्टाउज़ेरुंग" (Entausserung) का प्रयोग करके हेगल के "एन्टफ्रेंडुंग" से अपनी पृथकता स्पष्ट की है । मार्क्स के अनुसार इसके अर्थ हैं अलग होना, हटाना, दूर फेंकना, बेचना, निर्वासित करना[1] । इन दोनों शब्दों के अर्थों में कुछ सूक्ष्म भेद द्रष्टव्य है फिर भी अन्त में दोनों का समान अर्थ में प्रयोग होने लगा ।

बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ से कोश ग्रंथों में "एलियनेशन" शब्द को एक भिन्न अर्थ में प्रयुक्त किया जाने लगा - आस्थाहीनता अथवा मैत्रीराहित्य[2] ।

परिभाषा और व्याख्या

सुपरिचित व्यक्ति लंबे अरसे के बिछुड़न के बाद एकदम मिलते हैं । उनमें एक प्रकार की ऊब और रसहीनता की स्थिति अनुभवगोचर होती है । यह वस्तुतः आत्मनिर्वासन ही है । किसी अहितकारी आचरण के बिना भी आस्था का अभाव उनमें अनुभव हो सकता है । आत्मनिर्वासन शब्द का सबसे साधारण समसामयिक अर्थ इस प्रकरण में निहित है[3] ।

---

[1] Entaussern (Noun: Entausserung). The ordinary dictionary meaning of entaussern are 'to part with', to remove, to cast off, to sell, to alinate. The last of these best expresses the sense in which Marx usually uses this term.
Entfremden. (Noun: Entfremdung). The ordinary dictionary meaning for entfremden are to estrange, to alienate.
Karl Marx - Economic and philosophic Manuscripts of 1844, p.13

[2] In recent dictionaries 'Alienation' in this general sense is defined simply in terms of making indifferent or unfriendly.
Richard Schacht - Alienation - p.4

[3] A different sort of loss of intimacy can occur quite independently of untoward behaviour of any sort, simply as a rusult of one of the former intimates undergoing a change of some sort. Long seperation, for example, can transform people who once wer close into strangers who feel they no longer knew each other... The term 'Alienation' finds one of its most common contemporar applications in this context. Ibid p.4-5

आत्मनिर्वासन को परिभाषा में बांधना मुश्किल है । उसे लक्षणों से व्याख्यायित करना अधिक सरल और संगत है । आत्मनिर्वासन की स्थिति विविध कारणों से उत्पन्न होती है । अनेक पाश्चात्य लेखकों ने इस पर प्रकाश डाला है । आर्नोल्ड काफमेन लिखते हैं, "एक व्यक्ति आत्मनिर्वासित है" यह कहने का मतलब है कि अन्य के साथ उसके संबन्ध में कुछ ऐसे तत्व निहित हैं जिनके परिणाम अपरिहार्य अतृप्ति अथवा संतृप्ति का नाश है[1] ।

केनेथ केनिस्टन के अनुसार स्वाभाविक अभिकाम्य और पहले ही स्थित संबन्ध का विघटन है आत्मनिर्वासन[2] ।

अपने ऊपर अपने अधिकार के न होने की प्रतीति व्यक्ति के मन में आत्मनिर्वासन का बोध उत्पन्न करती है । व्यवस्था के अधीन भयभीत ज़िन्दा रहना वह पसंद नहीं करता । निरर्थकताबोध भी इसका प्रेरक तत्व है । व्यक्ति के मन में प्रश्न उठता है, जीवन का क्या अर्थ है ? क्यों वह जीता है ? सिर्फ मरने के लिए ! कोई युक्ति संगत उत्तर उसे नहीं मिलता । उत्तरहीन स्थिति उसे निरर्थकता बोध का शिकार बनाती है । इस जगत को, अपने को, समझने में वह असमर्थ रह जाता है । व्यक्ति-व्यक्ति के, व्यक्ति और जगत के बीच की संबन्धहीनता का तीव्र एहसास उसे एक अजनबी जगत की ओर ले जाता है । समाज के सुस्थापित मूल्यों का विघटन व्यक्ति को आश्रयहीन बना देता है ।

---

1. To claim that a person is alienated is to claim that his relation to something else has certain features which result unavoidable discontent or loss of satisfaction.
   Arnold Kaufmann - On Alienation Vol.No.8 - p.143

2. Most usages of alienation share the assumption that some relationship or connection that once existed, that is natural, desirable, or good, has been lost.
   Kenneth Kenstion - The Uncommitted - p.452

ज़िन्दगी की पराजय भी व्यक्ति-मन में निरर्थकता का बोध उत्पन्न करती है। व्यक्ति अपनी जीवन-यात्रा के पग पग पर पराजय पाता है। पराजय की निरंतरता को भोगते हुए उससे मुक्त होने का प्रयत्न भी वह करता रहता है। पर बचने का कोई मार्ग उसे नहीं सूझता। उसकी दिशाहीनता और आश्रयहीनता की परिणति आत्मनिर्वासन में हो जाती है। आत्मनिर्वासित व्यक्ति बाह्य जगत से, स्वयं अपने से भी अलग हो जाता है। वह जगत को अपना दुश्मन और अपनी इच्छाओं की श्मशान भूमि समझ लेता है[1]।

आत्मनिर्वासन की तीन स्थितियाँ मानी गई हैं - धनात्मक, नकारात्मक और धनात्मक-नकारात्मक[2]। (Alienation as positive quality, Alienation as Negative quality, Alienati on as positive and Negative quality at the same time)

आत्मनिर्वासन की विभिन्न स्थितियाँ

1. धनात्मक स्थिति में आत्मनिर्वासन को जीवन की परमोच्च स्थिति माना जाता है। "यह स्थिति (अवस्था) रहस्यवादी विचार के अनुकूल होती है। इसके अनुसार आत्मनिर्वासन मानव जीवन की परमोच्च चरितार्थता के आनन्दमय क्षणों के साथ जुड़ा रहता है[3]।" अस्तित्ववादी विचारक इस पक्ष के समर्थक हैं।

---

1. The essence of alienati-on is the seperation between subject and object, man finds himself cut off from a world that is advers and alien to his impulses and desires.
   Melvin Rader - Marx'sinterpretation of History, p.102
2. Pietro Chiodi - Sartre and Marxism, p.126,127
3. This is the position typical of mystical thought, according to which alienation coincides with ecstasy as supreme moment of man's fulfilment.
   Ibid - p.126

2. आत्मनिर्वासन को नकारात्मक स्थिति माननेवाले हैं मार्क्सवादी । वे इसे जीवन की एक अपरिहार्य स्थिति मान लेते हैं ।

3. आत्मनिर्वासन को हेगल तथा उनके अनुयायी धनात्मक-नकारात्मक मानते हैं । उनके मत से, आत्मनिर्वासन व्यक्ति की प्रकृति में है पर उसका निराकरण असंभव नहीं है ।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं, "आत्मनिर्वासन एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें कोई व्यक्ति अथवा वस्तु ऐसा बन जाने के लिए विवश बनाया जाता है (जाती है) जो उसकी वास्तविक सत्ता से भिन्न हो[1] ।"

व्यक्ति के अपनी वास्तविक सत्ता से भिन्न हो जाने के विषय पर विभिन्न दार्शनिकों ने अपने अपने सिद्धांत स्थापित किये हैं । हेगल और मार्क्स दोनों इस विवाद में अधिक जागरूक दिखाई पड़ते हैं । आधुनिक अस्तित्ववादी इन दोनों से नितांत भिन्न हैं । वे आत्मनिर्वासन की अपनी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं । उनके अनुसार विसंगतिबोध तथा अस्तित्व हीनता का एहसास ही व्यक्ति के आत्मनिर्वासन के मूल कारण है ।

आत्मनिर्वासनसिद्धांत की धारा का ऐतिहासिक सर्वेक्षण इस सन्दर्भ में आवश्यक है । प्रायः सभी सैद्धांतिक धाराओं के समान आत्मनिर्वासन का भी प्रथम स्फुरण प्लेटो में ढूंढा जा सकता है ।

---

[1] Alienation can be defined as the process where by some one or something is constrained to become other than that which it properly is in its being.

Pietro Chiody - Sartre and Marxism, p.126

प्लेटो आत्मा (मन) को प्राग्वर्ती और अनश्वर मानते हैं। आत्मा की वास्तविक अवस्थिति आइडियाओं में है। वह उस स्थिति में शरीर रहित है; विशुद्ध आनंद का अनुभोक्ता है। इन्द्रिय जगत से संबद्ध होने की इच्छा के कारण वहाँ से शरीर धारण कर इस भूमि में आ जाती है। अगर उसका जीवन पुण्यपूर्ण रहा तो मृत्यु के उपरान्त वह फिर उस दैवी जगत की ओर लौट जाती है[1]।

प्लेटो

स्पष्ट है, आत्मा और आइडिया की पृथक स्थिति प्लेटो मानते हैं। यह पृथक स्थिति तात्विक दृष्टि से आत्मनिर्वासित ही है। प्लेटो आगे कहते हैं कि मनुष्य (आत्मा) की स्थिति इस जगत में बहुत दयनीय है। वह जंजीरों से बँधी एक गुफा में पड़ी हुई है। मनुष्य इस जगत में जो कुछ देखता है वह सत्य नहीं, सत्य की छाया मात्र है[2]। सत्य से विच्छिन्न अवस्था में मनुष्य आत्मनिर्वासित रहता है। उसकी मुक्ति तभी संभव है जब वह जगत में पुण्यपूर्ण जीवन बिताकर मृत्यु के बाद आइडिया में पहुँच जाता है।

अरस्तु भी मनुष्य की आत्मनिर्वासित स्थिति को मानता है। उसके अनुसार एक मात्र सत्य परमात्मा है। शेष सब अयथार्थ है[3]। इसलिए

अरस्तु

मनुष्य जब तक अपनी वास्तविक स्थिति अर्थात् परमात्मा से कटा हुआ है तबतक वह आत्मनिर्वासि है।

---

[1] The soul is pre-existent as well as immortal. Its natural home is the world of Ideas, where at first it existed, wit a body, in the pure and blissful contemplation of Ideas. But because it has affiniti-es with the world of sense, it sinks down in to a body. After death, if a man has lived a good life, and especially if he has cultivated the knowl of ideas, philosophy the soul returns to its blissful abo the world of ideas, till, after a long period it again ret to earth in a body.
W.T. Stace - A Critical History of Greek philosopy, p.217

[2] Samuel Enoch Stumpf - Socrates to Sartre - A Histor y of Philosophy, p.53

[3] God alone is absolutely actual. He alone is real. All existent things are more or less unreal.
W.T. Stace - A Critical Histor y of Greek Philosophy, p.2

प्लेटो ने जिसे आइडिया कहा अरस्तु ने उसी को ईश्वर । प्लेटो और अरस्तु के उपरान्त जितने भी विचारक पश्चिम में हुए, सब ने किसी न किसी रूप में आत्मनिर्वासन की अनिवार्यता का समर्थन ही किया है । आधुनिक विचारकों ने इस पर गहरी दृष्टि डाली है । वर्तमान युग में सर्वप्रथम हेगल ने ही अपने ढंग से आत्मनिर्वासन की व्याख्या की । हेगल के बाद मार्क्स ने उसको एक अलग मान प्रदान किया ।

"आत्मनिर्वासन" को दार्शनिक महत्व देकर चर्चा सर्वप्रथम हेगल ने ही की[1] । इसका यह अर्थ नहीं कि हेगल के पहले इस पर किसी ने विचार ही नहीं किया । प्लोटिनस, सेंट आगस्टिन और मार्टिन लूथर के धर्म ग्रंथों में इसकी मीमांसा पायी जाती है । उनके अनुसार व्यक्ति अपनी अपूर्णताओं से मुक्त होने तथा एक अतीन्द्रिय शक्ति से तादात्म्य पाने केलिए लालायित दिखाई पड़ता है[2] । मुक्ति की इस चेष्टा में आत्मनिर्वासन निहित है ।

हेगल

हेगल ने ही सब से पहले आत्मनिर्वासन की व्यवस्थित दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत की । उनकी दृष्टि में आत्म निर्वासन एक मानवीय तथ्य है जो मनुष्य के अस्तित्व के साथ जुड़ा हुआ रहता है । हर व्यक्ति अपनी वास्तविक शक्ति को स्वयं पहचानने का श्रम करता है । लेकिन वह किसी अदृश्य शक्ति से संचालित तथा नियन्त्रित रह जाता है । यह एक निरंतर संघर्ष है

---

1. It was Hegel who first elevated the term to a position of Philosophical importance.

   Richard Schacht - Alienation, p.lxi
2. The roots of the idea of alienation can be found in the work of plotinus and in the theology of St.Augustine and Martin Luther (expressed, fo r example, in the struggle todissociat or alienate oneself from one's own imperfections by identify with a transcendental perfect being).

   The New Encyclopaedia Britanica - Vol.No.1, p.574

जिसमें व्यक्ति अनुभव करता है कि उसके तथा विश्व के बीच कोई सजीव संबन्ध नहीं है। व्यक्ति के साथ संबन्ध के अभाव में वस्तु-जगत निष्प्राण है।[1]

हेगल की दृष्टि में यथार्थ केवल आध्यात्मिक है। इसलिए ईश्वर और मनुष्य के पार्थक्य में आत्मनिर्वासन का बोध निहित है। मनुष्य अपने को इस विरोधी तथा अजनबी जगत से कटा हुआ अनुभव करता है। वस्तु जगत को अपने हितानुसार न पा सकने के कारण वह उससे ही नहीं अपने से भी विच्छिन्नता महसूस करता है।[2] इस प्रकार अपने से तथा जगत से विच्छिन्न मनुष्य ईश्वर से तादात्म्य प्राप्त करना चाहता है। हेगल इसे रिलिजियस रिट्रीट कहते हैं।[3] इस स्थिति में मनुष्य का व्यक्तित्व विभाजित हो जाता है और उसमें अलगाव की भावना बढ़ती है। इसी को हेगल आत्मनिर्वासन कहता है। हेगल के सिद्धांतों की व्याख्या करते हुए पिट्रोचिओडी ने स्थापित किया है कि ससीम तथा असीम के बीच का सम्बन्ध ससीम की निजी प्रतीति मात्र है। ससीम या "इंडिविजुअल स्पिरिट" परम आत्मनिष्ठा में वर्तमान है। अन्यथात्व की प्रतीति परम आत्मनिष्ठा का परिणाम है। वस्तुजगत के साथ उसका सम्बन्ध सान्दर्भिक (अस्थायी) है। वस्तुपरता के प्रति वैमुख्य से व्यक्ति में आत्मनिर्वासन की स्थिति उत्पन्न होती है। इतिहास प्रगति है जिसमें एलियनेशन की स्थिति अनिवार्य है।[4] हेगल का निष्कर्ष यह है कि अन्यथात्व या आत्मनिर्वासन तत्वतः व्यक्ति और परमसत्ता की विच्छिन्नता से उपजता है।

---

1. G.W.F. Hegel - Early theological writings, p.303
2. G.W.F. Hegel - Phenomenology - Baillies Translation, p.509
3. According to Hegel man's feeling of impotence in the world which he has himself created leads to a religious retreat from the real world.
   Marxism Communism and Western Society - A Comparative Encyclopaedia, Vol.1,p
4. Poetro Chiodi - Sartre and Marxism, p.137

कीर्केगार्द भी हेगल के समान यह मानते हैं कि व्यक्ति परम सत्ता से विच्छिन्न होने पर आत्मनिर्वासित रह जाता है । ये ही आधुनिक अस्तित्ववाद

कीर्केगार्द

के जनक माने जाते हैं । इनके अनुसार आत्मनिर्वासन व्यक्ति सत्ता की अनिवार्य स्थिति है[1] । कीर्केगार्द के मत पर प्रकाश डालते हुए डॉ॰ श्रीनिवासन लिखते हैं कि अस्तित्व के लिए सक्रिय व्यक्ति जब अपने को ईश्वर से कटा हुआ पाता है तब वह अपने को अस्तित्वहीन तथा एकाकी महसूस करता है, "ईश्वर से अपने सम्बन्ध को कटा हुआ देखकर मनुष्य अपने सौन्दर्यात्मक मानव-अस्तित्व की निर्मूलता का बोध प्राप्त करता है और स्वयं को व्यग्र एवं एकाकी अनुभव करता है[2] ।"

पित्रो चिओडी लिखते हैं, "किर्केगार्द के अनुसार मानवीय परिस्थिति की वैरुध्यात्मक प्रकृति इस तथ्य में निहित है कि उसके जीवन का आत्यान्तिक लक्ष्य परमात्मा के साथ उसके संबन्ध में निहित है । अतः अपने सामाजिक तथा जागतिक संबन्धों में वह वास्तविक आत्मनिर्वासन का सम्मुखीकरण करता है[3] ।"

---

[1] Man's essential nature entails his relation to God, the infinite, The existential condition is a consequence of his alienation from God.
Samuel Enoch Stumpf - Socrates to Sartre - A History of Philosophy, p.464

[2] Dr. G.Srinivasan - The Existentialist Concepts and the Indian Philosophical systems, p.94

[3] For Kierkegaard the paradoxical nature of the human situation consists in the fact that man, whose destiny lies in his relationship to God, encounters a defacto alienation in social and mundane relations.
Pietro Chiodi - Sartre and Marxism, p.129

कार्ल जास्पेर्स

कार्ल जास्पेर्स मानते हैं कि मनुष्य की शक्ति की सीमा है । वह असहाय स्थिति में है । अपने जीवन में वह इस विश्व की भयानकता और शक्तिहीनता का अनुभव करता है । उसके सामने शून्य है । इस भय स्थिति से बचने की वह चेष्टा करता है । अपनी सीमा से अवगत होता हुआ भी वह सर्वोच्च लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहता है । आत्मसत्ता की अगाधता और अतीन्द्रियता की सरलता में वह पर्याप्तता का अनुभव करता है ।[1] उनके इस कथन से वर्तमान मनुष्य की दयनीय स्थिति स्पष्ट हो जाती है । वह शून्य का अनुभव करते हुए उससे मुक्ति चाहता है । इस प्रकार मानवजीवन में आत्मनिर्वासन की स्थिति अनिवार्य है ।

हैडेगर

हैडेगर आत्मनिर्वासन को शून्यता बोध से उद्भूत मानते हैं । शून्यता मनुष्य के संरचनात्मक पक्ष के साथ जुड़ी रहती है । जीवन की विसंगति से संत्रस्त मनुष्य में निराशाजन्य शून्यता उत्पन्न होती है, वही आत्मनिर्वासन है । हैडेगर इस स्थिति को शून्यता नाम से अभिहित करते हैं, "शून्यता मनुष्य के संरचनात्मक पक्ष से संश्लिष्ट है । इसलिए उसे इसकी अनुभूति होती है । जब मनुष्य संत्रासग्रस्त होता है तो उसे एक शांत, मूक वाणी सुनाई पड़ती है । यही मूकवाणी उसे शून्यता का अनुभव कराती है ।"[2]

---

1. What is new about this age........ is that man becomes conscious of being as a whole, of himself and his limitations. He experiences the terror of the world, and hisown powerlessness. He asks radical questions. Face to face with the void, he strives for liberation and redemption. By consciously recognis his limits, he sets himself the highest goals. He experiences absoluteness in the depths of selfhood and in the lucidity of transcendence.
Karl Jaspers - The orgin and Goal of History. Michael Bullock (Trans.) p.2.

2. Martin Heidegger - Existence and Being, p.366

मार्सल ने प्रख्यापित किया कि व्यक्ति के अतिरिक्त समाज में जो कुछ भी वर्तमान है वह स्वयं न्यूनता का प्रतीक है।[1] व्यक्ति ही प्रमुख है। जगत अंधकारपूर्ण है जिसके भीतर मनुष्य आलोक केलिए आतुर है। अंधकार से मुक्त होने की छटपटाहट में वह व्यथा-वेदना आदि का अनुभव करता है, निरंतर असहाय रहने केलिए अभिशप्त है। असहाय स्थिति में मनुष्य आत्मनिर्वासित हो जाता है। वे कहते हैं, "कभी मनुष्य स्वयं को असहाय सा अनुभव करता है, तो कभी आत्मविश्वास खो बैठता है। उसे चारों ओर अंधकार ही अंधकार दिखाई पड़ने लगता है और आशा की कोई भी किरण उसे दिखाई नहीं पड़ती।[2] ऐसी स्थिति में वह व्यथा, वेदना आदि का अनुभव करता है।"

गब्रियल मार्सल

प्लेटो से लेकर गब्रियल मार्सल तक के दार्शनिकों के मतों पर हम विचार कर चुके हैं। सभी दार्शनिक इस पर सहमत हैं कि आत्मनिर्वासन मानव जीवन की अनिवार्य स्थिति है। उपर्युक्त दार्शनिक आस्तिक हैं। उनके अनुसार मनुष्य ईश्वर से कटा हुआ है और अतएव आत्मनिर्वासित।

अस्तित्ववादी दार्शनिकों का एक दल ऐसा भी है जो ईश्वर की सत्ता को बिलकुल स्वीकार नहीं करता। ईश्वरीय सत्ता का ज़ोरों पर निषेध करनेवाले नीत्शे का आगमन आत्मनिर्वासन के और एक पहलू का उद्घाटन करता है। उसने ईश्वर की मृत्यु की घोषणा की। अब तक व्यक्ति सत्ता का सर्वोच्च लक्ष्य था ईश्वर। उसकी मृत्यु की घोषणा ने व्यक्ति को नितांत

---

[1] Everything which exists in society besides the individual translates itself in to minus sign.
G. Marcel - Being and Having, p.203

[2] Ibid - p.74

आश्रयहीन बना दिया । नीत्से से जिस ईश्वर विहीन स्थिति का एहसास शुरू हुआ आधुनिक युग में उसका क्रमशः विकास होता रहा । समसामयिक अस्तित्ववाद के मूल में ईश्वर-निषेध का यह स्वर अत्यंत प्रखर है ।

नीत्से ने कहा कि ईश्वर मर गया है[1] । फलतः मानवमन में बची हुई आस्था विचलित हो गई । टिलिक के शब्दों में, मनुष्य अपनी सत्ता से (ईश्वर से) ~~मनुष्य अपनी सत्ता के (ईश्वर से)~~, दूसरों से और अपने आप से अपरिचित बनाया गया है[2] ।" यहाँ से आधुनिक मनुष्य के अस्तित्व संबन्धी चिंतन में एक नया मोड़ लक्षित होता है । महायुद्ध ने परम्परागत मूल्यों के पुनः परीक्षण को उर्वर भूमि प्रदान की । सामरिक विभीषिका से संत्रस्त नास्तिक दर्शन ने आधुनिक मानव को अपने अस्तित्व की अर्थवत्ता पर शंकालु बनाया । वह अनुभव करने लगा कि मनुष्य नितांत अकेला है । उसका कोई आश्रय नहीं है । इस जगत को वह विसंगत महसूस करता है । जीवन की निरर्थकता पर वह संत्रस्त है, मूल्यों का निषेधी है । "ईश्वर की तथाकथित मृत्यु ने उसे निषेध की पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया । फिर आवर्तनमय नियमवाले, ईश्वर विहीन, विसंगत जगत के विरुद्ध वर्तमान मनुष्य आत्मप्रतिष्ठा (Self-Assertion) की चेष्टा करता है[3] ।

नीत्से

आधुनिक अस्तित्ववादी दार्शनिक तथा साहित्यकार भी इसी विचारधारा के समर्थक हैं । इस जगत को विसंगत मानते हुए अलबर कामू मनुष्य के संत्रासयुक्त आत्मनिर्वासित स्थिति को अपने "मिथ आफ सिसिफस" में व्यक्त करता है[4] ।

---

1. God is dead ! God remains dead ! and we have killed him.
   Friedrich Nietzsche - The Joyful Wisdom, p.125
2. Man is estranged from the ground of his being (ie.God), fro
   other beings, and from himself.
   Tillich - Systematic Theology, II - p.46
3. The death of God brings us in to the age of nihilism. Man'
   self affirmation takes place therefore against the backgrou
   of a godless and absurd world whose law is the law of etern
   recurrence. John Macquarrie - Existentialism, p.36
4. द्रष्टव्य : इस शोध प्रबन्ध का "विसंगति-बोध" नामक अध्याय ।

सार्त्र की दृष्टि में एकाकीपन की यह स्थिति परोक्ष सत्ता के विनाश तथा मनुष्य के अस्तित्व संबन्धी चिंतन से उद्भूत है । ईश्वर विहीन स्थिति में मनुष्य इस संसार का तथा अपना ही भार ढोते ढोते स्वतंत्र रहने केलिए अभिशप्त है[1] । सार्त्र विकराल परिस्थिति में आश्रयहीन मनुष्य अपने को नितांत अकेला पाता है, लेकिन सब से कठोर आघात उस पर ईश्वर की मृत्यु का है - 'एकाकीपन से हमारा तात्पर्य केवल इतना होता है कि ईश्वर का अस्तित्व नहीं है और उसके सारे परिणामों का सामना स्वयं मनुष्य को ही करना है । ईश्वर के अभाव में मनुष्य एकाकी रह जाता है । उसे अपने भीतर या बाहर कोई भी ऐसी वस्तु नहीं मिलती जिसका वह आश्रय ग्रहण करें । वह अपने लिए बहाने बनाना आरंभ नहीं कर सकता[2] ।'

सार्त्र आत्मनिर्वासन को मानव जीवन के साथ जुड़ी हुई समस्या के रूप में स्वीकार करता है । मार्क्स द्वारा उद्भावित सामाजिक परिवर्तन से मिटने वाली एक साधारण समस्या के रूप में सार्त्र इसको मानता नहीं । मार्क्स इसको शाश्वत नहीं । सार्त्र के विचारों का विवेचन करते हुए पिट्रोचिओडी लिखते हैं, 'मात्र पूँजीवादी व्यवस्था में दिखाई पड़नेवाली समस्या नहीं है आत्मनिर्वासन । यह बहुत पुरानी समस्या है जो सामाजिक अन्यथात्व तथा वस्तुपरक अन्यथात्व उत्पन्न करती है[3] ।'

---

1. Man being condemned to be free carries the weight of the whol world on his shoulders; he is responsible for the world and himself as a way of being.
   Jean Paul Sartre - Being and Nothingness, p.677

2. डा॰ लालचन्द्रगुप्त मंगल - अस्तित्ववाद दार्शनिक तथा साहित्यिक भूमिका-पृ

3. Alienation is as old as the twin factors producing it (soci alterity and worked up on material). It doesnot appear onl the stage of capitalist exploitation.

   Pietro Chiodi - Sartre And Marxism, p.93

आधुनिक अस्तित्ववादी मनुष्य की भयावह तथा विरोधी परिस्थितियों से भलीभांति परिचित है । वह इस जगत में मनुष्य को मात्र पिलग्रिम समझता है, "अस्तित्ववादी चिंतन तब जन्म लेता है जब मनुष्य अपनी सुरक्षा में बाधा पाता है, दुनिया के वैरुद्ध्यों से परिचित होता है और यह समझ लेता है कि दुनिया में उसकी स्थिति तीर्थयात्री के समान है[1] ।" मनुष्य की यह पिलग्रिम की स्थिति वास्तव में आत्मनिर्वासन की है । आत्मनिर्वासन से मुक्ति की संभावनाओं पर आधुनिक अस्तित्ववादी विश्वास ही नहीं करते । आत्मनिर्वासन उनकेलिए एक अपरिहार्य समस्या है ।

मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद तात्त्विक दृष्टि से हेगेलियन डायलेक्टिक्स पर अधिष्ठित है । आत्मनिर्वासन सिद्धांत को भी मार्क्स ने हेगल से ही ग्रहण किया, भले ही अपना निष्कर्ष अलग रखा ।

मार्क्स

मार्क्स आत्मनिर्वासन को श्रमिक के अपने श्रम के उत्पाद से अलग होने की स्थिति मानते हैं । मज़दूर अपनी शक्ति लगाकर उत्पादन बढ़ाता है पर विसंगति की बात यह है कि उत्पादन पर उसका कोई नियंत्रण नहीं चलता । वह पराये का बन जाता है । विकास के बिना वही उत्पादन मज़दूर के विरुद्ध उसी के अस्तित्व की समस्या बनकर एक अजनबी वस्तु के समान दूर खड़ा हो जाता है[2] । फलत:

---

1. The existentialist style of thought seems to emerge whenever man finds his securities threatened when he becomes aware of the ambiguities of the world and knows his pilgrim status in it. John Macquarrie - Existentialism, p.39-40

2. Whatever he has created very soon seems to stand at a great distance from him, confronting him from an altogether different and alien source.

   Marxism Communism and Western Society - A Comparative Encyclopaedia, p.90

मज़दूर अपने को किसी बाह्य शक्ति से ज़बरदस्त संचालित तथा उत्पादन से और अपने से भी परायीकृत अनुभव करता है। "मज़दूर का प्रयत्न वस्तु बन जाता है। वह उससे अलग एक अजनबी वस्तु के समान उसी के विरुद्ध खड़ा हो जाता है। फलतः कामगार को अपने प्रयत्न के फल से भयभीत होना पड़ता है। उसकी मेहनत उसका ही दुश्मन बन जाती है। यहीं मज़दूर का आत्मनिर्वासन होता है[1]"। यही मार्क्स के आत्मनिर्वासन संबन्धी अवबोध है।

मार्क्स ने 1844 के अपने आर्थिक तथा दार्शनिक हस्तलेख में विस्तार से कामगार के आत्मनिर्वासन की चर्चा की है। कामगार को अपनी मेहनत का फल नहीं मिलता। अपनी शक्ति और प्रयत्न का फल उसका दुश्मन बन जाता है। "उसकी तात्त्विक सत्ता के बाहर रहती है उसकी मेहनत। वह अपने काम में तृप्त नहीं है। अपनी शारीरिक और मानसिक शक्ति का स्वतंत्र विकास नहीं कर पाता। वह शरीर को जड़ बनाता है और बुद्धि को विनष्ट। इसलिए श्रमिक अपने काम से अपने को अलग अनुभव करता है और काम करके को अपने से भी[2]।"

---

[1] The alienation of the worker in his product means not only that his labour becomes an object, an external existence but that it exists out side him, independently as something alien to him, and that it becomes a power of its own confronting him, it means that the life which he has conferred on the object confronts him as something hostile and alien.
Karl Marx - Economic And philosophic Manuscript of 1844, p.67

[2] The fact that Labour is external to his essential being: that in his work, therefore he does not affirm himself but denies hims doesnot feel content but unhappy, does not develops freely his physical and mental energy but mortifies his body and ruins his mind. The worker therefore only feels himself outside his work and in his work feels out side himself.
Ibid - p.69

बदले वे एक दूसरे के शत्रु बन कर सम्मुखीकरण करते हैं[1]।"

मार्क्स के अनुसार वर्ग भेद ही आत्मनिर्वासन का कारण है। अतः मज़दूर को व्यवस्था के अधीन नामहीन, शक्तिहीन और निराशाग्रस्त होना पड़ता है। मनुष्य आत्म-तृप्ति के लिए काम करता है। पर जब उसके श्रम की शक्ति पर बाह्य शक्ति का अमानुषिक हस्तक्षेप होता है तब उसका आत्मनिर्वासित होना स्वाभाविक ही है। "काम मनुष्य की आत्मतृप्ति का साधन है, सारतत्व है। उसी में उसका आत्मनिर्वासन अन्ततः निहित है। यह काम पदार्थीकृत बनाया जाता है। यह श्रमिक तथा उसके उत्पाद के ऊपर एक निर्जीव बाह्य संबन्ध के रूप में अध्यारोपित होता है। उसमें सामाजिक संबन्ध की उपेक्षा की जाती है और मुद्रा मेहनत का प्रतीक बन जाती है[2]।"

निष्कर्ष यह है, मार्क्स के अनुसार मज़दूर के आत्मनिर्वासन के मूल में शोषण है, दरिद्रता है, मज़दूर का तिरस्कार है और उसकी शक्ति का अमानवीकरण है। फलतः मज़दूर को समाज में ही नहीं अपने कार्य क्षेत्र में भी स्वतंत्रता नहीं मिलती। ये सब ऐसी स्थितियाँ हैं जो मज़दूर के निर्वासन को गहराते हैं, "आर श्रम के उत्पाद से शोषण से और कार्य की अवस्थाओं से अमानवीयकरण से परायापन गहराया तो स्वतंत्रता के मोह से आत्मपरायापन को फैलाया[3]।"

---

1. The Alienation of man from his own humanity assumes two intertwined forms. First, there is a disparity between his actual condition and his human nature; existence and essence are in conflict. Second, there is an estrangement of man from other man. Instead of being members of a true community they comfront one another as enemies.

   Melvin Rader - Marx's Interpretation of History, p.110

2. For Marx this self alienation resides ultimately in the fact human work, which orginally had been the essence of and the means for the self fulfilment of man, has been reified and materialised. It is imposed upon him as a soulless; external relationship between him and production, over powering socia relations and symbolised by money.

   Karl Marx - Economic And Philosophic Manuscript of 1844, p.12

3. रमेश कुन्तल मेघ - आधुनिकता बोध और आधुनिकीकरण - पृ. 194

आत्मनिर्वासन संबन्धी सैद्धान्तिक निष्कर्षों में हेगल मार्क्स और अस्तित्ववादी भिन्नकोटि में खड़े होते हैं। हेगल तथा कीर्केगार्द जैसे आस्तिक अस्तित्ववादी आत्मनिर्वासन को परिहार्य मानते हैं। मार्क्स की दृष्टि में भी आत्मनिर्वासन का परिहार संभव है।

आत्मनिर्वासन की अपरिहार्यता

आधुनिक अस्तित्ववाद मुख्यत: व्यक्तिनिष्ठ दृष्टिकोण का समर्थक है। उसकेलिए अन्यथात्व या आत्मनिर्वासन मौलिक, तात्त्विक तथा अनिवार्य है। हेगल ने स्थापित किया था कि परमात्मा से तादात्म्य प्राप्त करने पर आत्मनिर्वासनवाली स्थिति से व्यक्ति-सत्ता की मुक्ति संभव है। कीर्केगार्द भी इसी मत का समर्थक है। "कीर्केगार्द का विश्वास है कि जब मनुष्य स्वयं को पुन: ईश्वर के साथ संयुक्त कर लेता है तो वह निराशा से मुक्त हो जाता है।[1]"

मार्क्स ने परोक्ष सत्ता पर विश्वास किए बिना ही कहा कि सामाजिक अर्थ व्यवस्था के परिवर्तन से व्यक्ति अपने को आत्मनिर्वासन से मुक्त कर सकता है। मार्क्स केलिए आत्मनिर्वासन एक शाश्वत समस्या है ही नहीं। "आर्थिक एलियनेशन समाजवादी व्यवस्था के अभ्युदय के साथ अदृश्य हो जाता है।[2]" सारांश यह है, मार्क्स इसे एक अपरिहार्य समस्या के रूप में स्वीकार नहीं करते। उनकी दृष्टि में वह एक ऐतिहासिक प्रक्रिया है जिसका निवारण संभव है।[3]

---

1. Dr. G. Srinivasan - The Existentialist Concepts and the Indi-an Philosophic-al systems, p.94

2. Alienation will disappear once the advent of communist society has removed the cause of economic alienation.

   Pietro Chiodi - Sartre and Marxism, p.131

3. This conception of alienation and its over coming is the co of marx's humanism.

   Melvin Rader : Marx's Interpretation of History, p.119

आधुनिक अस्तित्ववादी आत्मनिर्वासन को मनुष्य की सृष्टि के साथ जुड़ी हुई समस्या मानते हैं और उसकी अपरिहार्यता भी घोषित करते हैं, "आत्मनिर्वासन मानवीय परिस्थिति का एक लक्षण है । आत्मनिर्वासन की अवस्था अनिवार्य है । यह अनिवार्यता मानव के जीवन को नियमित या नियंत्रित करनेवाले तथ्यों से संबद्ध है ।"[1]

सार्त्र ने इस मानवीय स्थिति पर ज़ोर देते हुए कहा कि हेगल और मार्क्स जैसे दार्शनिकों के उपायों से इसको हटाया नहीं जा सकता । यह मानवीय स्थिति के साथ अनिवार्य रूप से जुड़ी रहती है । उससे मुक्ति संभव नहीं । उस स्थिति का हमें स्वीकार करना ही चाहिए[2] ।

आत्मनिर्वासन की स्थिति से मुक्ति की सारी आशाएं निराधार हैं । मनुष्य निर्वासन की स्थिति को भोगते रहने केलिए अभिशप्त है । उससे मुक्त होने की हर छटपटाहट उसे और गहरी स्थिति पर पहुँचा देती है । सार्त्र ने मनुष्य की इस स्थिति का विवेचन करते हुए लिखा है कि वस्तुओं में और समूह में जो आत्मनिर्वासन है इनमें से किसी एक को चुनने के अलावा मनुष्य को और कोई चुनाव नहीं[3] ।

---

1. Alienation is a feature of the human itself. The state of alienation is in-eliminable. The ineliminable nature of alienation is connected to the factual elements conditioning the human situation.

   Pietro Chiodi - Sartre and Marxism, p.128

2. The alienation of which he speaks is presented as confronting us not with a disparity to be over come, but rather with a fact about ourselves to be acknowledged.

   Richard Schacht - Alienation, p.224

3. Man has no alterna-tive but to choose between alienation in things and alienation in the group.......

   Sartre - Being And Nothingness. p.744

अस्तित्ववादी कैमिप आत्मनिर्वासन से मुक्ति का संकल्प भी असंभव है । उसके अनुसार आत्मनिर्वासन अपरिहार्य रूप से मनुष्य की नियति के साथ जुड़ा रहता है । अन्य व्यक्ति के साथ आदमी के सम्बन्ध-स्थापन के मूल में प्रेरणा आत्मनिर्वासन की रहती है । प्रसिद्ध दार्शनिक वाल्टर काफमान ने रिचार्ड शैक्ट के "आत्मनिर्वासन" नामक ग्रंथ की भूमिका के शीर्षक का नाम ही "आत्मनिर्वासन की अनिवार्यता" दिया है । उसमें वे स्थापित करते हैं, "आत्मनिर्वासन न तो एक व्याधि है और न वरदान । चाहे अच्छा हो या बुरा, वह मनुष्य के अस्तित्व का केन्द्र तत्त्व है[1] ।"

यूरोप में एलियनेशन का यद्यपि दार्शनिक विवेचन पहले ही वर्तमान था तो भी साहित्य के सन्दर्भ में व्यापक चिंतन और मनन 20 वीं शताब्दि में ही हुआ[2] ।

पाश्चात्य सन्दर्भ और आत्मनिर्वासन

हेगल कीर्केगार्ड आदि दार्शनिकों ने व्यक्ति के आत्म-निर्वासित होने की स्थिति पर सैद्धान्तिक विवेचन किया है । किन्तु यूरोप की सामाजिक स्थिति 20 वीं शताब्दि में विशेष रूप से परिवर्तित हो गई । विश्व-युद्ध ही यूरोपीय सामाजिक परिवर्तनके मूल्य के हेतु है । विश्वयुद्ध ने समाज को ही नहीं बल्कि पूरे यूरोपीय चिंतन, दर्शन, मूल्य तथा साहित्य के क्षेत्र को भी कठोर आघात पहुँचाया ।

---

[1] Alienation is neither a disease nor a blessing but, for better or worse a central feature of human existance.
Walter Caufman's introduction to Richard Schacht's Alienation, p.xv

[2] हेगल के फिनामिनालजी आफ दि स्पिरिट [1807] में सौ पृष्ठों के एक अध्याय "स्पिरिट" एलियनेटड फ्रॉम इटसेल्फ, "कल्चर" में इसकी चर्चा की जाती है ।

प्रथम महायुद्ध के परिणामों से यूरोपीय जनमानस बुरी तरह आक्रांत था । हिटलर ने लाखों लोगों को अकारण मार डाला । इस अमानुषिक अत्याचार के फलस्वरूप उद्बुद्ध मनुष्य अपने को तुच्छ तथा असहाय पाने लगा । उसके सामने सिर्फ मृत्यु ही मंडरा रही थी । बचने का कोई मार्ग नहीं दीखता था । सब कहीं उसके अस्तित्व को विनष्ट करनेवाली शक्तियाँ वर्तमान थीं । इस भीषण नरहत्या के साक्षी बने यूरोपीय मानव अपने जीवन की निस्सारता पर चिंतित थे । और भी विसंगति की बात यह है कि आघात के ऊपर आघात के रूप में दूसरा विश्वयुद्ध छिड़ गया । सर्वाधिक विकराल आघात फ्रांस और जर्मनी पर हुआ । फलतः वहाँ के साहित्य में ही इस मर्मविदारक स्थिति का दारुण चित्रण अधिक हुआ[1] ।

अंधकार से बचने की लालसा ने फिर से अंधकार की ओर ढकेल दिया । जपान में अणुबम के भीषण वर्षा के परिणामस्वरूप लाखों निरपराध स्त्री-पुरुष मारे गए । उस भीषण घटना के मानसिक आघातने विश्व मानवता की चेतना को झकझोर दिया । कुछ अति उग्र नेताओं की करतूतों के परिणाम स्वरूप पाश्चात्य जन जीवन असह्य और अनिश्चितता का पर्याय बन गया ।

दो महायुद्धों की भीषण स्थिति से संत्रस्त पाश्चात्य देश की सामाजिक व्यवस्था शिथिल पड़ गयी । नैतिकता का स्तर गिर गया । नवजागरण के फलस्वरूप पाश्चात्य देश में, जन-मानस में जिस बौद्धिकता तथा नैतिकता को स्थान मिला था अब वह निराधार सिद्ध हुआ । अब यह संसार ही असीम

---

[1] The upheaval caused by two great wars has not unnaturally been accompanied in most nati-ons by a sense of disruption and unrest. Things are in a continual state of change, and all rhythms beat quicker. Fate had placed France at the heart of the military struggle. She was deeply shaken and her literature inevitably bears the marks of her sufferings.

L. Cazamian - A History of French Literature, p.418

अनुचित समझा जाने लगा, "विगत महायुद्धों की विनाशलीला एवं विगत क्रान्तियों ने ईश्वर के अतिरिक्त उन मूल्यों को भी धराशायी कर दिया जो मानववाद के द्वारा पुनर्जागरण काल एवं 18 वीं शती के बुद्धिप्रधान युग में प्रतिष्ठित किये गए थे[1]।"

नीत्शे ने जिस ईश्वर की मृत्यु की घोषणा की थी अब वह साबित हो गयी। निरीह लोगों की निर्दय हत्या के प्रत्यक्ष दर्शी पाश्चात्य देशों में मनुष्य की निस्सारता का दर्शन बल पकड़ने लगा। अनस्तित्व की करुण गाथा का उदय यहीं से हुआ। प्रतिकूल परिस्थिति बढ़ रही थी। संत्रास, अकेलापन और कुंठा का पूर्वाधिक विकास होता रहा। पीड़ा से संत्रस्त मनुष्य स्वयं को दूसरे से कटा हुआ पाता है। वह अपने को बिलकुल अकेला पाता है। सार्त्र के अनुसार व्यक्ति के अतिरिक्त और कुछ का अस्तित्व नहीं। अर्थात् ईश्वर नहीं, कोई वस्तुनिष्ठ मूल्य-व्यवस्था नहीं, सबसे बढ़कर कोई युक्ति संगत कार्य-कारण संबन्ध नहीं। इस स्थिति में सार्त्र कहता है मनुष्य स्वतंत्र है, मनुष्य स्वतंत्रता है[2]। यानी इस परिवर्तित सामाजिक परिस्थिति में मनुष्य अकेले होने केलिए अभिशप्त है।

वैज्ञानिक प्रगति का दुष्परिणाम भी मनुष्य के अस्तित्व केलिए खतरनाक बन गया। औद्योगिकीकरण की बढ़ती हुई ज्वाला में उसका सारा अस्तित्व भस्म होने लगा। इस प्रकार यूरोपीय समाज में विसंगति को दार्शनिक महत्व प्राप्त हो गया। फलतः व्यक्ति अपनी ज़िन्दगी को निरर्थक तथा अपने को अकेला

---

1. कुबेरनाथ राय - विषाद योग - पृ.140

2. To say there is nothing besides the existing individual mea
for Sartre that there is no God, no objective system of val
no built in essence, and most important of all, no determ
Man, says Sartre, is free; man is freedom.

Samuel Enoch Stumpf - Socrates to Sartre A History of Philosophy, p.484

महसूस करता है, "गत महायुद्धों की विभीषिका ने उसके तन मन को ऐसा पराजित कर दिया कि उसे न तो सनातन मूल्यों में विश्वास रहा और न आदर्शों की वीरता और ईमानदारी में। आज वह अकेले है या अकेले रहने के लिए अभिशप्त है।[1]"

पाश्चात्य देशों में वैज्ञानिक प्रगति का दोहरा फल भी दृष्टिपथ में आता है। वैज्ञानिक आविष्कारों के दुष्प्रभाव के फलस्वरूप भौतिक जीवन में निष्क्रियता आ गई है। मनुष्य की क्रियाशक्ति अतृप्त रह जाती है। भौतिक सुख के अतिरेक से पश्चिम की जनता अनैतिकता की ओर बढ़ रही है। यह भी नहीं आधुनिक नगरीकरण के परिणामस्वरूप आदमी आदमी के बीच की खाई बढ़ती जा रही है। इस प्रकार ईश्वर की मृत्यु, नगरीकरण, वैज्ञानिक प्रगति, महायुद्ध की भीषणता आदि ने मनुष्य के अकेलेपन की संवेदना को प्रश्रय दिया। उक्त मनोवृत्ति का प्रमुख कारण आध्यात्मिकता की पराजय के मूल में ढूँढा जाना चाहिए।[2]

फलत: व्यक्ति के मन में आश्रयहीनता का बोध बढ़ने लगा। वह जीवन को अर्थहीन तथा विसंगत पाता है। मनुष्य एक दूसरे से पहले से अधिक कटा हुआ महसूस करता है। उनका संबन्ध शिथिल पड़ गया है। सब अपने आप से निर्वासित अनुभव करते हैं। मूल्यों के प्रति जो आस्था थी वह भी नष्ट हो गई। इस प्रकार मनुष्य इस भौतिक जगत को यथार्थ, साथ ही साथ अर्थहीन पाता है। "बाह्य जगत ही यथार्थ है लेकिन इसका कोई अर्थ नहीं। यह दुनिया विसंगत है और ईश्वर मर गया है। वस्तुओं की स्थिरता एक मिथ्या धारणा है।[3]"

---

[1] कुबेरनाथ राय - विषाद योग - पृ॰152

[2] Urbanisation, growth of industries, specialisation and the traumatic experiences of war have done much towards the shaping of this sensibility, but perhaps the major cause lies in the failure of metaphysics.

Modernity and contemporary Indian Literature, pp.87,88

[3] The external world is real, it exists, but it has no meaning except for the mind. The world is absurd and God is dead. The apparent stability of things is an illusion.

Morris Bishop - A Survey of French Literature - Vol.II, p.399

लोग सोचने लगे कि निरर्थक तथा विसंगत जीवन बिताने केलिए नैतिक मूल्यों की ज़रूरत ही क्या ? परिणामतः अनैतिक-प्रवृत्तियों से पाश्चात्य समाज कलुषित हो गया है । अतः निराशा और निस्संगता का माहौल सारे यूरोप में व्यापने लगा है ।

जर्मनी और फ्रांस इस स्थिति से बेहद आक्रान्त हैं : वे ही युद्ध की भीषणता के प्रत्यक्ष दर्शी हैं । उनके साहित्य से मूल्यहीनता और निरर्थकता को पहले पहल आच्छादित किया । जीवन के निरर्थकता बोध से शनैःशनै पूरे पाश्चात्य साहित्य को जड़ से बदल दिया । यह मात्र किसी एक क्षेत्र की समस्या नहीं । सारे यूरोप में इसकी लहरें पायी जाती हैं । पाश्चात्य साहित्य की मूल चेतना ही अकेलापन है[1] ।

बुद्धिजीवी ही सबसे पहले सामाजिक परिवर्तन को तथा उससे उद्भूत मानवीय स्थिति को समझ लेता है । साहित्यकार मूलतः बुद्धिजीवी है और वह मानवीय स्थिति को सृजन का विषय बनाता है । दार्शनिक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर उसका विश्लेषण मूल्यांकन करता है । श्रेष्ठ साहित्यकार दार्शनिक भी होता है । अतएव काफ्का, कामू, सार्त्र, दस्तायेवस्की, जेम्सजायस जैसे पाश्चात्य दार्शनिक साहित्यकारों ने इस व्यापक दुर्दशा का, मनुष्य की दारुण स्थिति का वर्णन किया है ।

कहने का मतलब यह हुआ कि आत्मनिर्वासन की यह स्थिति किसी एक सीमित क्षेत्र के बौद्धिक वर्ग की समस्या नहीं, हर युग के मनुष्य में वर्तमान एक वैयक्तिक समस्या है जिससे आधुनिक यूरोपीय बौद्धिक वर्ग ऐतिहासिक कारणों से अधिक आतंकित हो उठा ।

---

[1] A basicfeeling that runs through the major
The basic feeling that runs through the major portion of Western literature.......... is the feeling of lonliness.

Modernity and Contemporary Indian Literature, p.87

इस का यह अर्थ नहीं, जनसामान्य इससे अप्रभावित है । अन्तर यह है कि जनसामान्य पर इसका प्रभाव कुछ विलंब के साथ ही प्राप्त होता है । पर साहित्य में इस बदलाव का सशक्त चित्रण ठीक समय पर होने लगा । जो समस्या अभी तक बौद्धिक वर्ग को संत्रस्त करती रही वही अब जन साधारण को भी संत्रस्त करने लगी । व्यापक सामाजिक, राजनैतिक आध्यात्मिक तथा भौतिक परिवर्तन के फलस्वरूप आज का व्यक्ति अपने में निहित आत्मनिर्वासित अवस्था को समझने पहचानने तथा अनुभव करने लगा है ।

भारतीय परिवेश

भारतीय वातावरण में आत्मनिर्वासन की अपनी भूमिका है । यूरोप के मृत्यु-बोध तथा संत्रास के माहौल में उसे परखना अनुचित है । विश्व युद्ध की विभीषिका तथा उससे जनित संक्रांत मन:स्थिति का हम प्रत्यक्ष दर्शी या भोक्ता नहीं रहे यद्यपि युद्ध की करालता का अनुभव हम ने भी किया है । पर हमारे जनसामान्य का अनुभव काफी हद तक परोक्ष है । फिर महायुद्ध की भीषणता का आघात भारतीय बुद्धिजीवी तथा सचेत व्यक्ति पर अवश्य पड़ा है । महायुद्ध के फलस्वरूप पश्चिम में उत्पन्न तनावग्रस्त माहौल में व्यक्ति का एकाकीपन अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया । उस स्थिति को यों ही अपनाना सिर्फ अनुकरण रह जायेगा अथवा केवल युरोपियन ।

संवेदनशील व्यक्ति की सजगता केवल अपने परिवेश तक ही सीमित नहीं रहती । वह विश्व के हर परिवर्तन से सचेत रहता है और उससे अभिभूत भी । याने विश्व की हर घटना सचेत व्यक्ति को प्रतिक्रियान्वित करती है, "भूगोल के किसी भी भाग में जो घटता है, वह बिना किसी सीधे संबन्ध सूत्र के एक दूरस्थ मनुष्य को उतना ही प्रताड़ित करता है, जितना कि वह सीधे सम्बन्धित व्यक्ति को पीड़ा या समान अनुभव देता है[1] ।" अत: हम नि:सन्देह कह सकते हैं कि

---

1. गंगाप्रसाद विमल - कल्पना नवंबर 1966 - पृ.53

आत्मनिर्वासन की प्रवृत्ति भारतीय मानस पर पश्चिमी प्रभाव की उपज प्रतीत होते हुए भी हमारी परिस्थिति से सीधे संबद्ध है ।

सन् 1947 में भारत स्वतंत्र हुआ । जनता अत्यधिक सन्तुष्ट हुई । उसके आनन्द की सीमा नहीं थी । देश के हर कोने में जनता ने आनन्दोल्लास मनाया । उसके वर्णन में शब्द असमर्थ हैं[1] ।

स्वतंत्र भारत के बारे में जनमानस में कई संकल्पनाएं थीं । स्वतंत्रता वास्तव में भारत के लिए एक वैचारिक पुनर्जन्म थी । जनता स्वतंत्र वातावरण में मुक्ति की स्वच्छन्द साँस लेने के लिए लालायित थी । पर आशा के विपरीत

विभाजन

उन्हें एक अत्यंत भीषण स्थिति का सामना करना पड़ा, वह है देश का विभाजन । भारत के विभाजन ने जनता की आशाओं और अभिलाषाओं को जड़ से उखाड़ फेंका । लाखों की संख्या में लोग मारे गए । हिन्दू-मुस्लिम दंगों के फलस्वरूप पास पड़ोस के हज़ारों लोगों के गले काटे गए । स्त्रियों का बलात्कार किया गया । बच्चों की भी निर्मम हत्या की गई । हिन्दू और मुसलमान दोनों क्रूर और हृदयहीन बन गए[2] ।

भारतवासी मानों पागल बन गए । मृत्यु का कराल ताण्डव हो रहा था । जबरदस्ती से धर्मपरिवर्तन किया गया । सैकड़ों मंदिर-मस्जिद तोड़े गए । गायों की हत्या की गई ।

---

1. It is hardly necessary to say that August 15 was hailed with joy all over India, and no words can adequately describe the tumultuous scenes of wild rejoicings witnessed in every city and every village.

   R.C. Majumdar - History of the Freedom Movement in India,Vol p.819

2. Throughout, the killing was pre-medieval in its ferocity, neither age nor sex was speared. Mothers with babies in their arms were cut down, speard or shot, and Sikhs cried 'Rawalpindi' as they struck home. Both sides were equally merciless.

   Tara Chand - History of Freedom Movement in India, Vol.iv,

गोमांस खाने से इनकार करने वालों को कत्ल कर दिया गया[1]।

कुलमिला कर देश में अशांति ही अशांति थी। एक विदेशी लेखक ने भारत की इस भीषण नरहत्या का विवरण यों दिया है, "छ: लाख मारे गए, करोड़ों को भगा दिया गया, लाखों की युवतियों को चुरा कर ले गया। हिन्दू मुसलमान दोनों इस प्रकार की करतूतें करते रहे[2]। अंत में वह कहता है कि ऐसा नहीं होना चाहिए था। स्वतंत्रता निराशा में परिणत हो गया[3]।

स्वतंत्र भारत का सारा वातावरण भय, संत्रास, कुंठा और निराशा से भर गया। सुरक्षित तथा स्वस्थ होने की आकांक्षा मात्र आकांक्षा रह गयी। स्वतंत्रता प्राप्ति के साथ ही लाखों की तादाद में आदमी शरणार्थी बन गये, "..... जब कि हमारी चेतना एक स्वर्णिम भविष्यवाद से स्पन्दित हो ही रही थी कि शरणार्थी के काफिले आते और जाते दिखाई देने लगे..... और उस भयंकर रक्तपात के बीच आन्तरिक रूप से एक विघटन समा गया, जो कहीं हमें हमारे दिमागों और दिलों में शरणार्थी बनाता चला गया[4]।"

---

1. Each convert was given a new Moslem name and made to recite a verse from the Koran. Then they were herded in to the mosque' courtyard where a cow was roasting. One by one the Hindus were made to eat a piece of its flesh. Das, a vegitarian until that instant, 'had a vomitting sensation', but he controlled it because, he thought, 'I will be killed if I do not obey their command.

   His neighbour, a Brahmin, asked permission to take his wi and three children back to his hut to get his special wedding plates and for-ks in view of the importance of the moment. Flattered, his Moslem captors agreed. 'The Brahmin had a knife hidden in his house', Das remembered. 'When he got home, he to it from its hiding - place. He cut his wife's throat, then th throats of his three children. Then he stabbed his own heart. None of them returned to eat the meat.
   Larry Collins and Dominique Lapierre - Freedom at Midnight, pp.287,288

2. 6,00,000 dead,14,000,000 driven from their homes. 1,00,000 young girls kidnapped by both sid-es, forcibly converted or so on the auction block. Mosley Leonard - Last Days of British Ra p.88

3. It need not have happend. It would not have happend had indep dence not been rushed through at such a desperate rate. Ibid, p.88

4. कमलेश्वर - नई कहानी की भूमिका - पृ.10

"आधीरात की स्वतंत्रता" नामक पुस्तक में इन शरणार्थियों की दयनीय स्थिति पर विचार करते हुए कहा गया है कि यह इतिहास का सब से बड़ा मैग्रेशन है[1]। इस प्रकार शरणार्थी बने मानव में अपने भविष्य के प्रति आशा ही क्या हो सकती है। मानसिक, शारीरिक, राजनैतिक तथा आर्थिक दृष्टि से वह पहले से अधिक असंतुलित बन गया। उसकी सारी आस्था विनष्ट हो गयी। आश्रयहीन, आशाहीन बन कर वह अपने को, अपनी ज़िन्दगी को कोसने लगा।

विभाजन मात्र एक दुर्घटना नहीं, एक मानवीय त्रासदी ही था, "यह एक मानवीय ट्रेजडी थी जिसने लाखों लोगों को भावनात्मक, विचारात्मक, मनोवैज्ञानिक, मानसिक और आत्मिक स्तरों पर प्रभावित किया था। यह दुर्घटना केवल राजनीति या किसी एक वर्ग विशेष से जुड़ी हुई नहीं थी, बल्कि इससे लाखों की जिन्दगी, उनका वर्तमान और भविष्य उनकी सभ्यता और संस्कृति, उनका आचरण और व्यवहार भी जुड़ा हुआ था[2]।"

फलतः स्वाधीन भारत का जीवन पहले से अधिक दूभर बन गया। उत्साह व उमंग के बदले जनमानस में निराशा और निरर्थकता-बोध व्यापने लगा। वैयक्तिक संबन्ध शिथिल हो गया। लोग एक दूसरे को सन्देह की नज़र से देखने लगे। भारतीय जनता जिस कल के लिए तरस रही थी, उसके मिलने पर पूर्वाधिक आश्रयहीन बन गई।

साधारण जनता यह विश्वास रखती थी कि प्रजातंत्र के फलस्वरूप उनकी स्थिति सुधर जायेगी। गरीबी के अभिशाप से मुक्ति मिलेगी। पर उनका सारा स्वप्न बेकार सिद्ध हुआ। निम्न वर्ग की जनता और दयनीय स्थिति की ओर

---

1. लारी कालिन्स एण्ड डोमिनिक लापियर - फ्रीडम अट मिड नाइट - पृ.317
2. नरेन्द्र मोहन [सं.] - सिक्का बदल गया - भूमिका - पृ.11

गिरती जा रही थी । वह पहले से अधिक गुलामी में फँस गयी । विदेशी सत्ता के स्थान पर स्वदेशी शक्ति प्रतिष्ठित हुई । पुराने शोषकों के स्थान पर नए शोषक आ गए ।

स्वतंत्रता के फलस्वरूप भीषण पूँजीवादी व्यवस्था और भी मज़बूत हो गई । स्वतंत्रता का जामा पहनकर उसका दूसरा रूप उभर आया जो नौकरशाही की छाया में लोगों को चूसने लगा । "आधुनिक युग में पूँजीवादी निश्चय ही खत्म हो रहा है लेकिन इसके बदले में जो समाज स्थापित हो रहा है वह प्रजातंत्र और वर्ग विहीन समाजवादी संसार नहीं बल्कि नये ढंग का नियोजित और केन्द्र द्वारा चालित नौकरशाही का फासिस्ट समाज है जिसमें मनुष्य की स्वतंत्रता को धीरे धीरे नष्ट कर दिया जायेगा[1] ।"

राजनैतिक दृष्टि से भी भारत की जनता सचमुच स्वतंत्र नहीं बन सकी । अर्थ, अन्न, वस्त्र, शस्त्र आदि के लिए उसे वर्षों तक विदेशों पर निर्भर रहना पड़ा । परमुखापेक्षिता स्वतंत्र चिंतन और निर्णय के पथ में बाधक बनी रही । गुलामी नए रूप में उन्हें ग्रस रही थी । उच्च वर्ग अधिक संपन्न बनते रहे । मध्यवर्ग तथा निम्न वर्ग का फिर से पतन ही होता रहा ।

विज्ञान और टेक्नालजी की प्रगति अवश्य होती रही, पर उसने परंपरागत मूल्यों की जड़ें उखाड़ दीं । यंत्रों के आविष्कारों के कारण मनुष्य का शारीरिक प्रयत्न बहुत कम पड़ गया । पर बेकारी तब भी बढ़ती रही । क्रियाहीन मस्तिष्क शैतान का कारखाना बनता ही है । मूल्यविघटन की भीषणता यहाँ से शुरू होती है । इस देश के सामाजिक कल्याण का आधार कुछ चिरंतन जीवन मूल्य थे । सामाजिक परिवर्तन के साथ मूल्यों का भी परिवर्तन हुआ । "ज्यों ज्यों

---

1. देवेन्द्र इस्सर - साहित्य और आधुनिक युग बोध - पृ.3

समाज बदलता है, हमारे मूल्य बदलते जाते हैं। न इन्सान समाज से अलग हो जाता है और न ही कभी मूल्यहीनता की स्थिति आ पाती है। आप यह कह सकते हैं कि समाज के बदलते परिवेश में पिछले मूल्य अपनी सार्थकता खो बैठे हैं। पर आप यह नहीं कह सकते कि मूल्य जैसी कोई चीज़ दुनिया में नहीं रह गयी।"[1] यान्त्रिक सभ्यता के बढ़ते बढ़ते नगर महानगर बन गये। इस महानगरीय परिवेश में पुराने मूल्यों का विघटन अवश्यंभावी हुआ। जो नये मूल्य स्थापित होने लगे वह यान्त्रिक सभ्यता से उद्भूत थे।

यान्त्रिक सभ्यता

यान्त्रिक सभ्यता ने व्यक्ति संबन्धों में शिथिलता उपस्थित की। औद्योगिकीकरण ने शिथिल व्यक्ति-संबन्धों को और अधिक शिथिल तथा अर्थहीन बना दिया। मनुष्य यंत्र का पुर्जा बन गया। इस बदली हुई सांस्कृतिक, सामाजिक परिस्थिति में व्यक्ति अपनी सार्थकता खोजने केलिए विवश हुआ। उसने अपने को खण्डित तथा नामहीन महसूस किया, "आधुनिक सभ्यता का सब से बड़ा संकट संभवतः अपने अस्तित्व की रक्षा का संकट है। इसे महानगरीय परिवेश में अधिक तीव्रता से अनुभव किया जा सकता है। वैसे महानगरीय परिवेश का संकट बहु आयामी है अस्तित्व रक्षा के अतिरिक्त तेजी से हो रहा मूल्य विघटन, औद्योगिक क्रांति, जन संख्या के दबाव और औद्योगिकीकरण के फलस्वरूप आदमी की मशीनी ज़िन्दगी और आर्थिक-सामाजिक कारणों से पारिवारिक संबन्धों में आये तनाव और टूटन आदि इस संकट के महत्वपूर्ण पक्ष हैं।[2]"

---

1. भीष्म साहनी - आलोचना अक्तूबर - दिसंबर - 1968 - पृ.11
2. अनुवाद् शोध पत्रिका - अंक तीन - 1979 - पृ.19

महानगर की भीड़ में व्यक्ति अपने को असहाय और अकेला पाता है । अनस्तित्व की व्यथा भोगते हुए भीड़ के साथ बह जाने केलिए वह अभिशप्त-सा दिखाई पड़ता है, "भीड़ में खोये हुए लोग एक दूसरे को बाहों का सहारा नहीं दे सकते । सब गुमनाम, बेनाम, बेचेहरा लोग हैं । उनका न कोई निजी अस्तित्व है, न कोई मित्र, न नातेदार । और वह एकाकीपन की अंधी गलियों में भयभीत भटक रहे हैं । न जाने क्यों ? न कोई रास्ता है न कोई मंजिल, न कोई रोशनी, न अर्थ, न दर्शन, न मार्ग दर्शक[1] ।

व्यक्ति-संबन्धों के विघटन का और एक कारण है व्यक्ति की अस्तित्व-हीनता का बोध । तकनीकी विकास के कारण व्यक्ति का मूल्य स्वयं घटने लगा था । मनुष्य ने जिन यंत्रों का निर्माण किया वे यंत्र उसके मालिक बन गए । फलतः वह अपने को पालतू और अपने में शून्यता का अनुभव करने लगा । "उनके आत्मीय संबन्धों के बीच शून्य का अन्तराल भर गया ।"[2]

हमने देखा कि आत्मनिर्वासन मनुष्य में निहित एक शाश्वत समस्या है, जिसका निवारण संभव नहीं । जीवन की सार्थकता पर विचार करनेवाले हर व्यक्ति को इस रास्ते से गुजरना पड़ता है । आधुनिक बुद्धिजीवी को ही नहीं पुराने ज़माने के बुद्धिजीवियों को भी यह समस्या पीड़ित करती रही है[3] ।

---

1. देवेन्द्र इस्सर - साहित्य और आधुनिक युग बोध - पृ.2

2. पुष्पपाल सिंह- सचेतना पूर्णांक - 54 सितंबर 1980-पृ.26

3. I do not accept the view that there was no alienation of intensely self concious individual in previous ages. All the original thinkers, prophets and eccentrics from Buddh-a and Christ downward to Galileo, Voltair, Diedrot, paine, Rousseou and Gandhi have been alienated man.

Modernity and Contemporary Indian Literature, p.47

आज आत्मनिर्वासन मात्र बुद्धिजीवी की समस्या नहीं । आम जनता तीव्र गति से शिक्षित हो रही है । शिक्षा-संपन्न व्यक्ति में आत्मनिर्वासन की स्थिति सहज ही पायी जाती है । आधुनिक युग में शिक्षा के प्रसार के साथ आत्मनिर्वासन का भी प्रसार अधिक होता है[1] । आज का अशिक्षित भी अपनी निर्वासित स्थिति से भलीभांति अवगत हो गया है ।

सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन "अज्ञेय" आत्मनिर्वासन को मनुष्य की शाश्वत स्थिति मानते हैं - "मानव सभी एकाकी है, यद्यपि सदैव, सभी कार्यों में नहीं । किन्तु काल पूर्वापर होने के साथ साथ समवर्ती भी है : जो कभी भी था, या कभी भी होगा, वह इस समय भी है । अतएव प्रत्येक मानव का एक अंश सर्वदा एकाकी होता है[2] ।"

भौतिकवादी दृष्टि से आत्मनिर्वासन को मिटाने का जो प्रयत्न हुआ है वह निष्फल निकला । सामाजिक परिवर्तन तथा वर्गहीन समाज की स्थापना से आत्मनिर्वासन का उन्मूलन कर सकने का मार्क्स का विचार गलत साबित हो चुका है भौतिकवादी विचारक भी इस तथ्य को स्वीकार करने केलिए विवश हो चुके हैं । "आज से दस बीस साल पहले यह कहा जाता था कि कलाकार हमेशा अकेला होता है इस पर मेरी टिप्पणी केवल इतनी ही है कि हर आदमी को, सोचने विचारने केलिए, मनो-मंथन केलिए, एकांत चाहिए, जिसमें केवल वह ही वह हो और कोई न हो । कलाकार का जीवन चूंकि अधिकतर मनोमय है [व्यस्त होते हुए भी],

---

1. If alienation is more widespread now than it used to be, it is because more people receiv-e more education today than forme

   Walter Kaufmann's Introduction to Richard Schacht's 'Alienatio
   p.xlvi

2. अज्ञेय - आत्मनेपद - पृ.250

3. Walter Caufmann's introduction to Richard Schacht's Alienation
   p.xxxix - li

इसलिए मुझे एकांत आवश्यक है । अपने मनोमय जीवन में प्रत्येक व्यक्ति अकेला होता है । यह स्वभाव सिद्ध है ।[1] अतः हम निःसन्देह कह सकते हैं कि व्यक्ति में अकेलापन स्वतःवर्तमान है । आम मानव और बुद्धिजीवी के बीच फरक यह है कि बुद्धिजीवी हरक्षण इससे अभिज्ञ रहता है । पर साधारण व्यक्ति समय के धक्कों से ही इस बात को समझ लेता है ।

भारतीय जनता अपनी अभिलाषाओं के भावमण्डल में विचरण कर रही थी । पर अंत में वह एक ऐसी स्थिति पर पहुँच जाती है जहाँ वह पहुँचना नहीं चाहती थी । इस विकृत परिस्थिति के फलस्वरूप आज का आम भारतीय व्यक्ति समाज से, परिवार से तथा अपने आप से टूटा हुआ अनुभव करता है ।

विकृत सामाजिक परिवेश का व्यापक प्रभाव अद्यतन साहित्य पर देख सकते हैं । स्वातंत्र्योत्तर भारतीय साहित्य में यह मोहभंग स्पष्टतः स्थापित हुआ है । हिन्दी बंगला, मराठी, गुजराती, मलयालम, जैसी सभी भाषा साहित्य में इस सामाजिक तथा वैयक्तिक अवरोध का स्वर अनुगुंजित है । बंगला साहित्य में इस पर विशद चर्चा हुई है ।[2]

हिन्दी साहित्य

हिन्दी क्षेत्र विभाजन की विभीषिका का प्रत्यक्ष दर्शी रहा । वह यातनाओं का प्रत्यक्ष भोक्ता था । अतः उसके साहित्य में इस स्वर का अनुगुंजन अत्यंत मार्मिक बन पड़ा है । उसका साहित्य उसकी अपनी मिट्टी से उद्भूत है । इस नई संवेदना से हिन्दी साहित्य के

---

1. मुक्तिबोध - मुक्ति बोध रचनावली - भाग - 4 - सं.नेमीचन्द्र जैन - पृ.112

2. 'After the terrible experience of the partition of humanity uprooted, of squalor and privation and corruption the Bengali poet was stirred to his depths. He did not have to go abroad for either theme or technique.

   Dr.K.R. Srinivasa Iyengar's Introduction to Indian Literature since Independence, p.xviii

समूचे मानदण्ड को बदल दिया है। एक नया स्वर, नया परिप्रेक्ष्य, एक नया व्यक्ति जिससे अभी तक भारतवासी अपरिचित था, साहित्य में स्थापित होता है। उसका नायक नया है, उसकी विशेषता यह है कि वह पाठक से, आम जनता से मिलता है, जुलता है। वह उसका प्रतिरूप है। मतलब कि आधुनिक साहित्य का नायक अति-मानवीय शक्तिवाले महामानव नहीं बल्कि सारी कमज़ोरियों से युक्त लघुमानव है।

हिन्दी में प्रेमचन्द ने पहले पहल लघुमानव की प्रतिष्ठा की। हीरो के स्थान पर साधारण मनुष्य की प्रतिष्ठा प्रेमचन्द के होरी से शुरू होती है। आज का नायक उस होरी की परम्परा का है। विपरीत परिस्थितियों से संघर्ष करके उनपर अनायास विजय पाने वाले वीर नायकों का युग बीत गया। अब जो नायक वर्तमान है उसमें मानवेतर भी नहीं है। पुराना वीर नायक अपदस्थ हो गया है, "आज वीरपूजा का महत्व नहीं रहा, नायक विघटित हो चुके, धर्म के विषय में सन्देह उत्पन्न हो गए। जहाँ धर्म को ग्रहण किया गया वहाँ उसके मानवपरक अर्थ खोजने का प्रयास किया जाता रहा, उसे सफलता मिली या नहीं, यह बात और है।"[1] इस प्रकार अपदस्थ नायक अपने जीवन में आयी विकृति को सहने के लिए अभिशप्त बन गया है

प्रेमचन्द

मोहभंग से उत्पन्न संत्रास के कारण वह बेहद निराशाग्रस्त है। जिस प्रगतिवादी समाजिक परिस्थिति का स्वप्न देखा गया वह बिलकुल मिथ्या साबित हुआ। इस तरह हर कोशिश में, पग पग पर मिली पराजय से संत्रस्त आधुनिक मानव अपनी व्यथा को मौन सहने के लिए अभिशप्त दिखाई पड़ता है। वह अपनी अस्मिता की तलाश में व्यर्थ भटकता हुआ दिखाई पड़ता है। इस संकटग्रस्त स्थिति का भोक्ता मात्र है आधुनिक मानव। अतः आधुनिक साहित्य उन लघुतों का है

---

1. धर्मवीर भारती - मानव मूल्य और साहित्य - पृ.7।

जो इस नई स्थिति के शिकार हैं । इस पर और कुछों का शिकायत होना स्वाभाविक है, 'नये लेखक का साहित्य सब को समान सुख नहीं दे सकता, सबको समान तृप्ति नहीं दे सकता । क्योंकि एक गलत व्यवस्था में कुछ का सुख बहुतों का दुःख है[1] ।'

सच्चाई से विलग होकर तटस्थ रहना सजग साहित्यकार की अन्तरात्मा केलिए सह्य नहीं । आधुनिक साहित्यकार आत्मघात केलिए तैयार नहीं । वह इस भीषण स्थिति का सहभागी और सहभोगी है । 'संवेदना सच्चाइयों से ऊपर उठकर तटस्थ हो जाने में नहीं, सच्चाइयों के भीतर घुसकर उसकी अंतरंगता में संबद्ध हो जाने से ही निःसृत होती है ...... क्यों कि जीवन से यथार्थ तटस्थ हो सकती है, सत्ताएं और सत्य तटस्थ हो सकते हैं - पर मनुष्य अपनी सच्चाइयों और सन्दर्भों से कभी तटस्थ् नहीं हो सकता[2] ।' सामयिक सच्चाई से न्याय करते हुए अपनी अस्मिता की सार्थकता चाहनेवाले साहित्यकार बिना किसी अतिशयोक्ति के, बिना कोई रंग चढ़ाए यथार्थ की गहराई की ओर पाठकों को ले जाते हैं । इसलिए आधुनिक साहित्य में जीवन की गंध है ।

प्रेमचन्द के बाद अज्ञेय में यह स्वर नया आयाम पा लेता है । स्वतंत्र भारत की विभीषिका तथा निराशा से ग्रस्त नायक आधुनिक यांत्रिक युग की अनिश्चितता के भंवर में पड़कर डंवाडोल होने का चित्र अज्ञेय साहित्य की मूल चेतना है । 'शेखर एक जीवनी', 'नदी के द्वीप', 'अपने अपने अजनबी' इसकेलिए पर्याप्त प्रमाण हैं । इसके नायक अस्तित्व की पीड़ा से संत्रस्त हैं । अज्ञेय का नायक हिन्दी साहित्य में एक नई शुरुआत है । 'वास्तव में 'गोदान' के होरी के बाद यदि कोई पात्र अपने संपूर्ण व्यक्तित्व सहित आज भी जीवित है तो वह शेखर ही

अज्ञेय

---

1. कमलेश्वर - मेरा पन्ना - पृ.34
2. वही - पृ.38-39

जिस प्रकार गोदान हिन्दी उपन्यास का प्रथम मोड़ सिद्ध हुआ 'शेखर एक जीवनी' उसका दूसरा मोड़ है .....।"[1]

उपन्यास में ही नहीं कविता के क्षेत्र में भी अज्ञेय ने इस नई प्रवृत्ति को प्रश्रय दिया। तार सप्तक, दूसरा सप्तक और तीसरा सप्तक में नए राहों के अन्वेषी बने सात कवियों की कविताएं संकलित हैं। वे इसलिए राहों के अन्वेषी हैं[2] कि वे मानवीय मानवी से संयुक्त बुद्धिजीवी है। इनकी रचनाओं में अनिश्चित भविष्य की शंकाकुल मानसिकता स्पष्ट है, साथ ही साथ जिज्ञासा रखने की अभिलाषा भी।

साठ के बाद वाले साहित्य में यह स्वर और तीव्र हो गया। व्यक्ति मृत्यु, भय, संत्रास और अनिश्चितता को स्वीकारते हुए अपने अस्तित्व को सत्य मानने लगा। अनिश्चितता-बोध मानव जीवन के विसंगति बोध से तीव्र बनी सच्चाई है। परिणामतः व्यक्ति अपने निजत्व की खोज में भटकते हुए आत्मनिर्वासन की स्थिति में पहुंच जाता है।

भुवनेश्वर प्रसाद

भुवनेश्वर का 'तांबे के कीड़े' [1946] हिन्दी का प्रथम विसंगत नाटक है। 'ऊसर' उसकी अगली कड़ी है भुवनेश्वर अपने नाटकों में जीवन की विसंगति और उसके बीच पिसनेवाले मनुष्य का चित्रण करता है। न वह आस्थावादी है न वह वर्तमान पर सन्तुष्ट।

विसंगति का यह स्वर स्वातंत्र्योत्तर साहित्य में प्रकारान्तर से मुखरित होने लगा रचना-दृष्टि और माध्यम की विभिन्नता के बावजूद जीवन के मानवीय अंश साहित्य में स्थापित हुए है जिसका सामाजिक एवं राजनैतिक तथा दार्शनिक धरातल भी है

---

1. देवेन्द्र इस्सर - साहित्य और आधुनिक युगबोध - पृ.150-151

2. तार सप्तक - सं.अज्ञेय - पृ.12-13

सन् पचास के बाद नवलेखन का दौर शुरू हुआ । नई गतिविधियों के साथ नए लेखकों का रुख काफी बदला हुआ था । बदलते हुए सामाजिक तेवर को सृजनात्मक आग्रह के साथ नए हस्ताक्षरों ने साक्षात्कृत किया जिनमें राकेश की प्रतिभा व्यापक तथा गहरी दीखती है । नई कहानी आन्दोलन तथा "थियेटर मूवमेंट" के साथ राकेश का इतना गहरा संबन्ध था कि कहना चाहिए वे अगुआ ही रहे ।

मोहन राकेश

राकेश का व्यक्तित्व जितना प्रखर है जितना स्पष्ट है उतना ही वह अन्तर्मुख और जटिल भी है । बौद्धिकता को उन्होंने भावात्मक ढंग से अनुभूत किया । एक विशेष रोमान्टिक पक्ष, जिसको उन्होंने प्राय: प्रश्रय दिया है, जो बौद्धिक जटिलता से ओतप्रोत है । अर्थात् सामाजिकता के स्पष्ट एवं प्रकट पक्ष के रहते हुए भी उनमें जीवन की विसंगतियों का एक संपन्न पहलू भी विद्यमान है । निरंतर टूटते रहने की प्रक्रिया, मानों उनकी संवेदना का अभिन्न अंग हो । कहीं न बनने की त्रासदी मानों उन्हें जकड़ी हुई हो । सामाजिकता का पक्ष इसमें से ढूंढ लिया जा सकता है । पर ऐसा ही लगता है, और कहना चाहिए यही उनका ढूंढा हुआ रास्ता है, कि यह टूटन, जिसमें से कभी वे मुक्त नहीं हो सके, उनकी रचना धर्मिता की अस्मिता है । संभवत: उनकी रचना-धर्मिता की व्यापक संभावना भी इसी में निहित हैं ।

निष्कर्ष

1. "एलिनेशन" केलिए हिन्दी में अनेक शब्द प्रचलित हैं । हम "आत्मनिर्वासन" शब्द को स्वीकार करते हैं ।

2. फिनामिनालजी आफ स्पिरिट में हेगल एलियनेशन केलिए एन्टफ्रेमडुन्ग शब्द का प्रयोग करते हैं जिसका अर्थ है अपरिचितत्व [एस्ट्रेंजमेंट] ।

3· मार्क्स ने इसकेलिए "एन्टाउज़ेरंग" शब्द का प्रयोग किया जिसके अर्थ हैं अलग होना, हटाना, निर्वासित करना । इन दोनों में अर्थ संबन्धी भिन्नता है । पर बाद में दोनों का समान अर्थ में प्रयोग होने लगा ।

4· अरनाल्ड कॉफमैन के अनुसार अपरिहार्य अतृप्ति अथवा संतृप्ति का नाश ही एलियनेशन का अर्थ है ।

5· आत्मनिर्वासन की तीन स्थितियाँ हैं - धनात्मक, नकारात्मक और धनात्मक-नकारात्मक ।

6· धनात्मक स्थिति रहस्यवादी विचारों के अनुकूल होती है । नकारात्मक स्थिति के समर्थक हैं मार्क्सवादी।हेगल और उनके अनुयायी धनात्मक-नकारात्मक स्थिति के समर्थक है ।

7· आत्मनिर्वासन एक चिरन्तन मानवीय स्थिति है जिसका अस्तित्व प्लेटो जैसे विचारक भी मानते थे । प्लेटो के अनुसार यह स्थिति मानवात्मा का परमात्मा से विच्छिन्न होने पर होती है । अतएव दयनीय भी है ।

8· अरस्तु भी मनुष्य की आत्मनिर्वासित स्थिति को स्वीकार करता है । उसके अनुसार एकमात्र सत्य परमात्मा है । मनुष्य परमात्मा से कटा हुआ है, अत: आत्मनिर्वासित भी ।

9· हेगल की दृष्टि में आत्मनिर्वासन एक मानवीय तथ्य है जो मनुष्य के अस्तित्व के साथ अविच्छेद्य रूप से जुड़ा हुआ है ।

10· पिट्रोविओवी स्थापित करते हैं कि इन्डिविजुअल स्पिरिट परम आत्मनिष्ठा वर्तमान है और आत्मनिष्ठा का परिणाम है आत्मनिर्वासन ।

11· कीर्केगार्द यह मानते हैं कि परम सत्ता से विच्छिन्न होने वाली व्यक्ति-सत्ता आत्मनिर्वासित रह जाती है ।

12. कार्ल जास्पेर्स के अनुसार संसार में मनुष्य की स्थिति दयनीय है । आत्मनिर्वासन जीवन में अनिवार्य है ।

13. हैडिगर मानते हैं, शून्यता (आत्मनिर्वासन) मनुष्य के संरचनात्मक पक्ष के साथ जुड़ी रहती है ।

14. मार्सेल प्रख्यापित करते हैं कि व्यक्ति ही प्रमुख है, व्यक्ति के अतिरिक्त समाज में जो कुछ भी वर्तमान है वह स्वयं शून्यता का प्रतीक है ।

15. ईश्वरीय सत्ता पर विश्वास न रखने वाले अस्तित्ववादी विचारक भी मनुष्य की आत्मनिर्वासित स्थिति को अनिवार्य मानते हैं ।

16. मार्क्स आत्मनिर्वासन को अनिवार्य नहीं मानते । श्रमिक का अपने उत्पाद से अलग होना आत्मनिर्वासन है । वर्गभेद ही उसका कारण है ।

17. अस्तित्ववादी दर्शन मनुष्य को इस संसार में अकेला मानता है । हैडिगर, मार्सेल, जास्पेर्स आदि सभी अस्तित्ववादी दार्शनिक इसके समर्थक हैं ।

18. अस्तित्ववादी एक दृष्टि से आस्था-हीनता का समर्थक है । आस्थाहीनता का प्रत्यक्ष दर्शन हमें आधुनिक साहित्य में मिलता है ।

19. सार्त्र की दृष्टि में एकाकीपन की स्थिति मनुष्य के अस्तित्व संबन्धी चिंतन से उद्भूत है । व्यक्ति का भाग्य उसके अपने आचरण पर अधिष्ठित है ।

20. आधुनिक अस्तित्ववाद मूलत: व्यक्तिनिष्ठ दृष्टिकोण का समर्थक है । यह मार्क्सीय विचारधारा के खिलाफ है ।

21. रिचार्ड शाक्ट यह स्थापित करते हैं "चाहे अच्छा हो या बुरा वह (आत्मनिर्वासन) मनुष्य के अस्तित्व का केन्द्र तत्व है ।

22. महायुद्धों की विभीषिका ने जीवन के सुंदर भविष्य की आशा को तहसनहस क दिया है । आधुनिक पाश्चात्य साहित्य इसका उदाहरण है ।

23• कामू, सार्त्र आदि दार्शनिक साहित्यकारों के ग्रंथों में जीवन के अंधकारमय अ
आत्यंतिक परिणति के स्फुरण मिलते हैं ।

24• नगरीकरण और यांत्रिक सभ्यता के प्रसार ने मानवीय मूल्य के सामने प्रश्न चि
लगाए ।

25• भारतीय परिवेश भले ही पश्चिमी परिवेश से भिन्न हो, पर यहाँ की
सामाजिक तथा वैचारिक स्थिति कुंठा और निराशा से ग्रस्त रही है ।

26• स्वातंत्र्य प्राप्ति के बाद की निराशा और मोहभंग ने हमारे साहित्यकारों
में आत्मनिर्वासन की स्थिति उत्पन्न की ।

27• आधुनिक हिन्दी के सभी साहित्यिक प्रभेदों में यह स्थिति लक्षित होती है

28• मोहन राकेश के साहित्य में जीवन की इस विसंगति का जितना जीता जाग
चित्र मिलता है उतना अन्यत्र नहीं ।

* * *

दूसरा अध्याय

विश्रांति-बोध

दूसरा अध्याय

विसंगति - बोध

"एब्सर्ड" शब्द केलिए हिन्दी में विसंगति[1], असंगति[2], ऊलजलूल[3] आदि शब्द प्रचलित हैं। एब्सर्ड का अर्थ है असंगत या युक्तिहीन। युक्तियुक्तता के बीच युक्तिहीनता का आभास भी निरंतर मिलता रहता है। यह एक अनिवार्य नियम है। इस से कलाकार को जूझना पड़ता है पर वह "एब्सर्ड" बोध के शिकंजे से कभी भी मुक्त नहीं हो पाता।

एब्सर्ड शब्द

विसंगति-बोध से संबन्धित चिंतन का आधुनिक काल में आरंभ यूरोप में हुआ। वर्तमान यूरोप की भयानक स्थिति पर हम विचार कर चुके हैं। महायुद्धोत्तर यूरोपीय मानस में विसंगति-बोध ने कैसे जड़ जमायी, इस पर भी विचार हो चुका है[4]।

---

1. डॉ॰ गोविन्द चातक - आधुनिक नाटक का मसीहा मोहन राकेश - पृ॰20
2. डॉ॰ धर्मवीर भारती- मानव मूल्य और साहित्य - पृ॰19
3. बलवंत गार्गी - रंगमंच - पृ॰263
4. इस शोध प्रबन्ध का पहला अध्याय।

वस्तुत: विसंगतिबोध मानव में चिन्तनशक्ति के आविर्भाव के साथ ही उत्पन्न होता है। विचारशील व्यक्ति की दृष्टि में जीवन और जगत वास्तव में विसंगत हैं[1]। महायुद्ध की विभीषिका और मानवीय मूल्यों के विघटन ने विसंगतिबोध को गहराया। यही कारण है कि युद्धोत्तर काल में ही इस पर व्यवस्थित विचार हुआ। दार्शनिक व्याख्या हुई। फ्रांसीसी दार्शनिक आल्बेर कामु ने इस विषय पर पहले पहल विचार प्रस्तुत किया। "मिथ आफ सिसिफस" नामक उनकी पुस्तक विसंगति-बोध का घोषणा पत्र है।

विसंगति-बोध

हमारी अपेक्षाएँ और तदनुकूल आचारणों के बावजूद घटनाओं की विरुद्ध परिणति जीवन का एक अनिवार्य सत्य है। हमारी चाह, हमारे कर्म, हमारा कर्म-फल और उसका औचित्य इन में कोई कार्य कारण सम्बन्ध, कोई युक्ति-युक्तता नहीं है। कामु कहता है - "युक्तिहीनता से टकराना और उससे निर्मुक्ति पाने की इच्छा करना ही विसंगति है। मनुष्य के हृदय में उसका आह्वान निरंतर प्रतिध्वनित होता है।"[2] कामु आगे कहता है, मनुष्य की आवश्यकता और जगत के अयुक्तिक मौन के बीच के संघर्ष से विसंगति का जन्म होता है[3]।

इस वैपरीत्य का कारण क्या है ? समझने का कोई युक्ति-संगत माध्यम ही नहीं। अपनी मेधा के लिए अनबूझ होने पर भी संसार में मनुष्य इन अयुक्तिक परिस्थितियों को झेलते रहने के लिए विवश है। इस विवशता को

---

1. .... the world is absurd ...... This wor-ld in itself is not reasonable, that is all can be said.

   Albert Camus - The Myth of Sisyphus, p.26

2. What is absurd is the confrontation of the irrational and the wild longing for clarity whose call echos in the human heart.

   Ibid - p.26

3. The absurd is born of this confrontation between the human need and the unreasonable silence of the world.

   Ibid - p.32

सामाजिक मान्यताओं के समकक्ष रखकर देखा नहीं जा सकता । सामाजिक मान्यताओं के परे ऐसे कई नियम हैं जो व्यक्ति के सम्बन्ध में अधिक सार्थक हैं । क्योंकि व्यक्ति ही उसका साक्षी बना रहता है । व्यक्ति ही उसका सहभागी है । मृत्यु ऐसी एक विवशता है । मनुष्य की सारी कोशिशों की परिणति अन्ततः मृत्यु में समाहित है[1] ।

मृत्यु का एहसास मनुष्य में निरर्थकताबोध पैदा करता है । हर कोशिश उसे विसंगति से अधिक विसंगति की ओर ले जाती है । विसंगति से अवगत व्यक्ति अपने भविष्य के संबन्ध में आशाहीन बन जाता है । कामू कहता है "विसंगति मुझे इस तथ्य से अवगत कराती है कि जीवन का कोई भविष्य नहीं[2] । भविष्य अनिश्चित है, वर्तमान विसंगत है, इनके बीच मनुष्य की स्थिति सबसे अधिक विसंगत है ।

कामू ने अपने "मिथ आफ सिसिफस" में ज़िन्दगी और जगत की निरर्थकता पर विचार करते हुए कहा - 'यह ज़िन्दगी जीने योग्य है या नहीं, इसके निर्णय करने में दर्शन के मौलिक प्रश्न का उत्तर निहित है । वस्तुतः सर्वाधिक गंभीर दार्शनिक समस्या एक ही है - आत्महत्या[3] ।

आलबेर कामु

जीवन की सार्थकता पर चिंतन करनेवाले व्यक्ति को इस समस्या का सामना करना ही पड़ता है ।

---

1. At the end of all that, despite everything, is death.
   Albert Camus - The Myth of Sisyphus, p.83

2. The absurd enlightens me on this point : There is no future.
   Ibid - p.57

3. There is but one truly serious philosophical problem and tha is suicide. Judging whether life is or is not worth living amounts to answering the fundamental question of philosophy.
   Ibid - p.11

महायुद्ध और विसंगति बोध

महायुद्ध के प्रत्यक्ष दर्शी तथा उसके भीषण परिणामों के भोगी पाश्चात्य जनता के मन में जीवन के अर्थ का प्रश्न स्वभावतः उठ खड़ा हुआ । उन्हें ऐसा लगा कि वे जो जीवन बिता रहे हैं वह असंगत है, जिसका न कोई अर्थ है न मूल्य । मृत्यु तक जीवित रहना उन्हें और अधिक विसंगत लगा । मनुष्य जीवन की निरर्थकता और इस जगत की अयुक्तिक स्थिति पर विचार करते हुए कामू आगे कहता है, "भ्रम और दीप्ति के आवरण से निर्मुक्त विश्व में मनुष्य अपने को असंगत और अपरिचित अनुभव करता है । अपने विनष्ट भवन की स्मृति अथवा वचनबद्ध आवास की आशा से रहित होने के कारण वह इस दुनिया में स्वयं निर्वासित है, जिससे बचने का कोई उपाय ही नहीं है । मनुष्य और उसके जीवन के बीच का यह विच्छेद, अभिनेता और उसके मंच के बीच का यह कटाव ही वस्तुतः विसंगति का अनुभव है[1] ।"

अब प्रश्न उठता है : निर्वासन कहाँ से ? प्रथमतः और अन्ततः अपने आप से । अपने व्यक्तित्व से । व्यक्ति की सारी घटनाएं इच्छा-अभिलाषा के विपरीत ही घटित होती हैं । अतः वह बाह्य जीवन से कट जाता है । मनुष्य की इस अनिवार्य स्थिति के संबन्ध में कामू कहता है कि जिन्दा रहने का मतलब यह है कि विसंगति को बनाए रखना[2] ।

---

1. .... in a universe suddenly divested of illusions and ligh man feels an alien, a stranger. His exile is without remedy since he is deprived of the memory of a lost home or the hope of a promised land. This divorce between man and his life, t actor and his setting, is properly the feeling of absurdity.

   Albert Camus - The Myth of Sisyphus, p.13

2. Living is keeping the absurd alive.

   Ibid - p.53

सिसिफस के समान मनुष्य इस विसंगत संसार में अपनी कठिनाइयों को सहते हुए ज़िन्दा रहने केलिए अभिशप्त है । सिसिफस कामू के विसंगत दर्शन का प्रतिरूप है । ग्रीक मिथोलजी के अनुसार सिसिफस कोरिंत का राजा था । उसके अशिष्ट व्यवहार से क्रुद्ध होकर जूस {Zesus} ने उसे निरंतर पहाड़ी पर एक भारी पत्थर लुढ़काते चढ़ाते रहने का शाप दिया । वह निरंतर यही कार्य करता रहता है । उस वेदना से उसे मुक्ति नहीं मिलती । सिसिफस ने जिस पीड़ा को अपने जीवन में भोगा उसी पीड़ा को इस विसंगत जगत में मनुष्य भोग रहा है । यानी कामू केलिए सिसिफस मानवराशि की विसंगति का प्रतीक है[1] ।

मिथ आफ सिसिफस

विसंगति का बोध मनुष्य को अजनबी बनाकर छोड़ता है । सबसे पहले वह अपने आप से अजनबी बनता है । इसे हम मानवीय जीवन की क्रूर त्रासदी कह सकते हैं । अजनबी वह क्यों बनता है ? इसलिए कि उसके अन्दर की रागात्मक भाग और बाहर की दैनिक घटनाओं एवं अनुभवों के बीच कोई तारतम्य नहीं । "हमारे मन के द्वारा अभिलषित एकता और तारतम्य जगत में प्राप्त नहीं होता । अनुभूत जगत असंगत और अस्तव्यस्त है । इसके परिणाम हैं या तो आत्महत्या अथवा विश्वास का विच्छेद[2] ।"

---

[1] For him Sisyphus is the sy mbal of mankind - the ancient hero who was condemned to spend his days rolling a boulder to the top of a hill, always to see it escape him and crash back down to the bottom.

John Macquarrie - Existentialism, p.38-39

[2] The Absurd, for Camus, is an absence of correspondence between the minds need for unity and the chaos of the world the mind exper iences, and the obvious response is either suicide or, in the opposite direction, a leap of faith.

Arnold P. Hinchlief - The Absurd, p.36

विसंगति का बोध उन लोगों को संत्रस्त नहीं करेगा जो जीवन के प्रति निश्चिन्त है। अपने दुःखों को परोक्ष सत्ता के प्रकोप समझनेवाले अबोध व्यक्ति भी इसके शिकार हैं पर वे इससे सचेत नहीं। जीवन की अर्थवत्ता तलाशने वाले हर व्यक्ति को विसंगति का सामना अनिवार्य रूप से करना पड़ता है। कोई भी इससे मुक्त नहीं हो पाता[1]।

मार्टिन एस्लिन

विसंगति बोध के सम्बन्ध में कामू ने जो सिद्धांत उपस्थित किए उनका विशद विवेचन मार्टिन एस्लिन ने अपनी पुस्तक "थियेटर आफ दि एब्सर्ड" में किया है। वे नाटकों के प्रकरण में ही इस सिद्धांत की व्याख्या करते हैं। एब्सर्ड नाटक पारम्परिक नाटकों से भिन्न है। विसंगत नाटक में सुगठित नाटकों के गुण नहीं होते। उसके लिए सुनिश्चित प्रारंभ और अन्त नहीं, सुव्यवस्थित कार्यकलाप नहीं, सुन्दर अर्थयुक्त संवाद नहीं केवल बकवास [बाबिल्स] ही होते हैं[2]। अयुक्तिक संवादों और घटनाओं के माध्यम से विसंगति का बोध कराना ही इस तरह के नाटकों का लक्ष्य है।

अयनेस्को

विसंगति बोध पर गंभीरतापूर्वक विचार करनेवाले लेखक हैं अयनेस्को। उन्होंने अपनी डायरी में वर्तमान विश्व की विसंगति पर प्रकाश डाला है। काफ्का को लिखे हुए अपने पत्र में वे कहते हैं, "उद्देश्यराहित्य ही विसंगत है। इस अवस्था में मनुष्य अपने धार्मिक तत्त्वपरक तथा अतीन्द्रिय आधारों से कट जाता

---

[1] At any street corner the feeling of absurdity can strike any man in the face.
Albert Camus - The Myth of Sisyphus, p.17

[2] Martin Esslin - The Theatre of the Absurd, p.21,22

उसके सारे कार्य विनष्ट होते हैं। वह चेतनारहित असंगत और अनुपयुक्त बन जाता है।[1]"

विसंगतिबोध और साहित्य

पहले ही अस्तित्ववादी दार्शनिक मानव जीवन की महत्ता के सामने प्रश्न-चिह्न लगा चुके थे। विश्वयुद्ध के बादवाले साहित्य में अस्तित्व दर्शन का प्रसार तीव्रगति से होने लगा। मनुष्य की अस्तित्वहीन स्थिति का उसके जीवन की विसंगति का चित्रण पाश्चात्य साहित्य में विपुल मात्रा में हुआ है। युद्धोत्तर पाश्चात्य साहित्य में जीवन की इस विसंगति का अत्यंत प्रखर रूप मिलता है। कहीं वह संत्रास के रूप में कहीं कहीं अवसाद एवं निराशा के रूप में प्रकट हुई

साहित्य संबन्धी परंपरागत धारणाएं बदल गईं। उसके रूप, शैली, शिल्प सब बदल गए। नए नए मूल्य उद्घाटित हुए। भाषा का ढांचा ही बदल गया। वस्तुत: यह क्रांतिकारी परिवर्तन का युग है। परम्परागत श्रेष्ठ नायकों का पतन हुआ। कर्मठ वीर-शूर-पराक्रमी नायक जो सभी कार्यों में विजयी होता था, अब नहीं रह गया। सैनिक नायकों की निरर्थकता और खोखलापन से बुद्धिजीवी तथा प्रबुद्ध पाठक अवगत हो गए। स्टीफेन स्पेन्डर ने इस नायक-संबन्धी परिवर्तन पर जोर देते हुए कहा कि आज का नायक शा, वेल्स आदि के नायकों के समान बाह्य शक्ति से संघर्ष करनेवाला नहीं। वह जॉयस, प्रूस्त जैसे लेखकों के नायकों के समान अपने विरुद्ध संघर्ष करनेवाला है।[2]

---

1. Absurd is that what is devoid of purpose ..... cut off from his relegious, metaphysical, and transcendental roots, man is lost; all his actions become senseless, absurd, useless.

   Eugene Ionesco - 20th October 1957 (Letter)
   Quoted from Martin Esslin's The Theatre of the Absurd, p.23

2. The voltarian 'I' of Shaw, Wells and the others, acts upon events. The Modern 'I' of Rimband, Joyce, Proust, Eliots, Prufrock is acted upon by them.

   Stephen Spender : Moderns and contemporaries (Ed. by Irving
   Literary Modernism), p.44

यह परिवर्तन मात्र नायक संबन्धी परिकल्पना में ही नहीं मनुष्य की सारी समस्याओं के सन्दर्भ में होने लगा । इसका प्रतिफलन साहित्य में अवश्य हुआ । इस प्रकार वैयक्तिक समस्याओं से साहित्य पहले कभी आतंकित नहीं हुआ था । उसमें नए नए प्रश्न उभर आने लगे।[1] इस परिवर्तन का मूल कारण मनुष्य संबन्धी अवधारणा में आया हुआ अन्तर और जीवन की अनिवार्य विसंगत स्थिति है ।

आज का मनुष्य इस स्थिति को ढोने के लिए अभिशप्त है । एडिथ सिटवेल ने "अणुयुग पर तीन कविताएं" में इस बदली हुई मानवीय स्थिति को और अधिक प्रतीकात्मक ढंग से चित्रित करते हुए कहा, "अपने हृदय पर कीलों से टंकी हुई जैसे सलीब पर चोर । मैं लटक रही हूं दोनों बीच - जीवन के और उस खाई के जहां संसार का अंत हो गया है ।[2]" मनुष्य जब अपने बारे में सोचने लगा तब उसे अनुभव हुआ कि वह इस दुनिया में आधारहीन होकर लटक रहा है । उसका कोई अस्तित्व नहीं । यही उस की विसंगति है ।

स्वाधीनोत्तर भारत और विसंगतिबोध ।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बादवाले भारतीय साहित्य में विसंगति बोध से संत्रस्त चरित्रों का चित्रण होने लगा । हिन्दी साहित्य में इस का प्रखर रूप मिलता है । क्योंकि हिन्दी प्रदेश स्वतंत्रता संग्राम का तथा उसके बादवाली मोहभंग की स्थिति का प्रत्यक्ष दर्शी था । अज्ञेय से लेकर इसकी चर्चा शुरू करना आवश्यक है । अज्ञेय के नायक जीवन में अकेले हैं और जीवन के अनिश्चित भार को ढोने के लिए अभिशप्त भी ।

---

[1] No literature has ever been so shockingly personal as ours- it asks us every question that is forbidden in polite society.

Lionel Trilling - On the Modern element in Modern literature. (Ed. by Irving Howe - Literary Modernism),p.64

[2] धर्मवीर भारती - मानवमूल्य और साहित्य - पृ.19 [उद्धृत]

यह प्रवृत्ति धर्मवीर भारती के "अंधायुग" में आकर पश्चिम सिटवेल की कविता के समान तीव्र हो जाती है। मानवीय मूल्यों और मर्यादाओं का विघटन "अंधायुग" में चित्रित है। इसकी व्यापक प्रतिष्ठा इसलिए हुई कि यह भारत की अपनी स्थिति पर विरचित है।

पुंसत्वहीन, निष्क्रिय, आस्थाहीन नायकों का जैसा चित्रण "अंधायुग" में हुआ वह आरोपित नहीं, वास्तविक है। वर्तमान मनुष्य अपनी ज़िन्दगी की विसंगति से तथा ज़िन्दा रहने की निरर्थकता के संबन्ध में पूर्वाधिक सचेत है। "मनुष्य दिनों दिन निरर्थकता की ओर अग्रसर होता प्रतीत होता है। यह संकट केवल आर्थिक या राजनीतिपरक संकट नहीं है वरन् जीवन के सभी पक्षों में समान रूप से प्रतिफलित हो रहा है। यह संकट केवल पश्चिम या पूर्व का नहीं वरन् समस्त संसार में विभिन्न धरातलों पर विभिन्न रूपों में प्रकट हो रहा है[1]।"

परिवर्तन साहित्य का एक अनिवार्य नियम है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं सभी प्रकार के परिवर्तन अनिवार्यता की उपज हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के भारतीय समाज को वैज्ञानिक सन्दर्भ में देखना है। तभी प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से भारतीय साहित्य को प्रभावित करनेवाले अनेक तत्व नज़र आएगी।

मोहन राकेश

मोहन राकेश का रचनाकार व्यक्तित्व हमेशा समकालीन स्थितियों से जूझता रहा है। इसलिए उनके पात्र अपने को विसंगत अवस्था से मुक्त करने की कोशिश के बावजूद उस संकटग्रस्त वातावरण के शिकार बने रहते हैं। अज्ञेय और भारती के अतिरिक्त निर्मल वर्मा, दुष्यंतकुमार, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, जैसे अन्य आधुनिक लेखकों में भी यह विसंगति बोध अभिव्यक्ति पाता है।

---

1. डॉ. धर्मवीर भारती - मानव मूल्य और साहित्य - पृ.10

अर्थ की पहचान से ही अस्तित्व की पहचान संभव है। हर सचेत व्यक्ति में इसकी खोज है। यह खोज एक ऐसी प्रक्रिया है जो निरंतर बनी रहती है। इसका यह अर्थ नहीं कि उसने अपनी खोज के दौरान सर्वत्र सार्थकता महसूस की हो। परिस्थितिएं ऐसी ही है जिनमें व्यक्ति अपने अस्तित्व को सुस्थापित करने में पराजित हो जाता है।

अनस्तित्व की तड़प

सामाजिक मर्यादाएं व्यक्ति के अस्तित्व में बाधक बन सकती हैं। उन्हें पहचानने और पहचानने पर भी तोड़ने में अपने को असमर्थ पाना जीवन की एक ऐसी अभिशप्तता है जिसकी तड़प एक आधुनिक मनुष्य के भीतर हमेशा सुलगती रहती है। उसका भविष्य अंधकारपूर्ण है। उसका कोई निश्चित रूप नहीं। परिणामत: उसका अनिश्चितता-बोध गहरा हो जाता है। अर्थात् आधुनिक युग का मनुष्य अनस्तित्व की संकटापन्न स्थिति को ओढने केलिए विवश है। वह अस्तित्व केलिए लड़ता है पर अनस्तित्व की अन्तहीन व्यथा को भोगते हुए मृत्यु का आलिंगन करने केलिए अभिशप्त रह जाता है, "आज के मनुष्य का भविष्य संकटापन्न है और ऐसी स्थिति में अर्थात् अपनी संकटापन्न स्थिति को लिए हुए वह दुविधा को[1] चलाए जा रहा है। मृत्यु का आलिंगन किए बिना वह उससे अलग नहीं हो सकता।"

'आषाढ का एक दिन' का कालिदास सृजनशील प्रतिभा का प्रतीक है वह अपनी अस्मिता पर सचेत है। पर अपने ग्राम प्रांतर में उसे वांछित स्वीकृति नहीं मिलती। उसमें उसे हमेशा दूसरों की लांछनाएं तथा भर्त्सनाएं ही मिली हैं। वहाँ कालिदास की दिव्य प्रतिभा को समझनेवाला कोई नहीं था। मल्लिका का

---

1. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय - द्वितीय समरोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास - पृ.72

कथन इसको स्पष्ट करता है "....... उस व्यक्ति को, जिसे उसके निकट के लोगों ने आज तक समझने का प्रयास नहीं किया। जिसे घर में और घर से बाहर केवल लांछना और प्रताड़ना ही मिली है।"[1]

एकमात्र मल्लिका ही कालिदास को समझने और स्वीकारने में सक्षम है। लेकिन कालिदास के साथ उसका सम्बन्ध समाज द्वारा समर्थित नहीं होता। इस तरह अपने परिवेश में ही तिरस्कृत कालिदास अपने को तुच्छ महसूस करता है। फिर भी उसमें शक्ति है, प्रतिभा है। वह अपने को बनाये रखना चाहता है, "हम जिएंगे हरिणशावक! जिएंगे न ? एक बाण से आहत होकर हम प्राण नहीं देंगे। हमारा शरीर कोमल है तो क्या हुआ ? हम पीड़ा सह सकते हैं।"[2]

हरिणशावक के साथ कालिदास का कथन यह स्पष्ट करता है कि उसका कवि हृदय आहत है। पर कवि के रूप में उसकी प्रतिष्ठा उस ग्राम प्रांतर में नहीं के बराबर है। क्योंकि वह गउ चराने वाला है और अतएव तुच्छ भी। कालिदास अपने अस्तित्वराहित्य महसूस करता है।

एक ओर कालिदास के वास्तविक व्यक्तित्व पर एक गाढ़ा आवरण डाल दिया जाता है, दूसरी ओर उसकी वैयक्तिक महिमा को अस्वीकारा जाता है इसलिए वह अनस्तित्व की व्यथा का शिकार बन जाता है। अतः अम्बिका का आरोप - "वह व्यक्ति आत्मसीमित है। संसार में अपने सिवा उसे और किसी से मोह नहीं"[3] सहना पड़ता है।

---

1. मोहन राकेश - आषाढ़ का एक दिन - पृ.24
2. वही - पृ.15
3. वही - पृ.25

राज्य की ओर से सम्मानित होने की खबर सुनकर कालिदास में निहित कलाकार जब "मैं राजकीय मुद्राओं के क्रीतदास होने केलिए नहीं हूँ"कहकर रोष प्रकट करता है तो उस पर मातुल की टिप्पणी कालिदास के बारे में उसकी नासमझी को स्पष्ट करता है, "कालिदास की कविता ! न जाने इतने बड़े आचार्य को इसकी कविता में क्या विशेषता दिखाई देती है"[1] । कालिदास के राज्याश्रय के तिरस्कार पर अम्बिका भी मातुल के समान कटु आलोचना प्रस्तुत करती है, "सम्मान प्राप्त होने पर सम्मान के प्रति प्रकट की गई उदासीनता व्यक्ति के महत्व को बढ़ा देती है । तुम्हें प्रसन्न होना चाहिए कि तुम्हारा भागिनेय लोकनीति में भी निष्णात है[2] ।"

राजकीय मुद्राओं का क्रीतदास बनने का अर्थ है उसकी अस्मिता को नष्ट करना । कालिदास जैसे प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति ऐसे तुच्छ लोगों के सामने अपने को समर्पित करने केलिए कभी भी तैयार नहीं होता । यह उसकी अस्मिता का सवाल है । कालिदास का आक्रोश उस व्यवस्था के प्रति है जो उसे मोल लेना चाहता है । नाटककार का लक्ष्य भी आज के लेखक की दुविधा पर प्रकाश डालना है । "मैं इस नाटक में आज के लेखक की द्विविधा को चित्रित करना चाहता था - लेखक जो राज्य या इसी प्रकार की अन्य संस्थाओं द्वारा प्रस्तावित लोभ के प्रति आकर्षित होता है और दूसरी ओर कहीं अपने प्रति प्रतिबद्ध भी होता है[3] ।" व्यवस्था का प्रलोभ, लोगों की ओर से निन्दा और तिरस्कार तथा अपने प्रति प्रतिबद्धता इन तीनों के बीच खड़े कालिदास अस्तित्व की पीड़ा से तड़प रहा है ।

---

1. आषाढ़ का एक दिन - पृ.30
2. वही - पृ.28-29
3. मोहन राकेश - साहित्यिक और सांस्कृतिक दृष्टि - पृ.164

लहरों के राजहंस का कथानक यद्यपि भिन्न कोटि का है तथापि उसमें भी अनस्तित्व की तड़प अत्यंत तीव्र रूप में अनुभव होती है । नन्द की दुविधा यह है कि वह अपनी पत्नी सुन्दरी के सौन्दर्य पर आसक्त होता हुआ भी उसका पूर्ण भोग नहीं कर सकता । अपने बड़े भाई बुद्ध के मार्ग को श्रेष्ठतम समझता हुआ भी उसको अपना नहीं सकता । इस तरह सही चुनाव न कर पाने की स्थिति में वह लहरों पर तैरने वाले राजहंस के समान अस्तित्वहीन बन जाता है । शिकार केलिए निकले नन्द ग्लानि से पीड़ित तथा बिना घाव के मरे मृग के दर्शन से बेहद अस्वस्था हो जाता है, "बाण से क्षत-विक्षत मृग को देखकर मन में कभी कोई अनुभूति नहीं होती, होती भी है, तो केवल प्राप्ति की हल्की सी अनुभूति । परन्तु बिना घाव के अपनी ही ग्लानि से मरे हुए मृग को देख कर मन में जाने कैसा लगा[1] ।"

थके हुए मृग की मृत्यु पहले पहल नन्द में जीवन की विसंगति का बोध उत्पन्न करती है । जीवन की निरर्थकता उसे अस्वस्थ कर देती है । नन्द सोचता है कि मनुष्य अपनी जीवन-यात्रा में विभिन्न संघर्षों से लड़ते लड़ते मृग के समान त्रासद अंत पाने केलिए अभिशप्त है । उसके मन में अपने भाई के प्रति आदर है । यशोधरा के दीक्षित होने से वह दुःखी है । सुन्दरी के प्रति उसके मन में अगाद्य प्रेम है । इन विपरीत परिस्थितियों के बीच सही निर्णय न कर पाने की स्थिति नन्द की विसंगति है ।

ज़िन्दगी की सुनिश्चित परिणति मृत्यु का एहसास नन्द को अनस्तित्व के कगार पर खड़ा कर देता है, "मृत्यु समय पर ही आती है पर उसका अहसास जीवन में हर समय आदमी में बना रहता है । मृत्यु एक प्रकार का अनस्तित्व है । जिसका बोध जीवन की निस्सारता की ओर ले जाता है[2] ।"

---

1. मोहन राकेश - लहरों के राजहंस - पृ.53
2. डॉ.गोविन्द चातक - आधुनिक नाटक का मसीहा मोहन राकेश - पृ.69

ज़िन्दगी की वास्तविकता से सचेत नन्द कहीं सुरक्षित होने की बेचैनी में सुन्दरी और बुद्ध के बीच डाँवाडोल हो रहा है । सुरक्षा और स्वच्छन्दता की हर कोशिश उसे अधिक अरक्षित और अस्वस्थ बना डालती है । उसे भौतिक सुख-भोग से या आध्यात्मिक विचार से शान्ति नहीं मिलती । दुःख, पीड़ा और आक्रन्द अन्त उसकी नियति है, "क्योंकि आज का आदमी दुविधा की स्थिति में बँटा है और मात्र आध्यात्मिकता उसे अस्तित्व के किसी संकट का समाधान नहीं दे सकती ।"[1]

नन्द की व्यथा श्यामांग के प्रलापों में अधिक स्पष्ट है, "कोई स्वर नहीं है .... कोई किरण नहीं है ...... सब कुछ ..... सब कुछ इस धुंध में डूब गया है । मुझे सुलझा लेने दो ..... सुलझा लेने दो ...... नहीं तो अपने हाथों का मैं क्या करूँगा ।"[2] इस विवशता से नन्द की मुक्ति नामुमकिन है । मृत्युपर्यन्त इसको भोगते हुए ज़िन्दा रहने केलिए वह अभिशप्त है ।

स्वयं मनुष्य-जीवन की निरर्थकता से अनभिज्ञ, अपने सौन्दर्य पर घमण्ड करने वाली सुन्दरी अपने आकर्षण में नन्द को बाँध रखना चाहती है । उसका विश्वास है कि स्त्री की असमर्थता के कारण ही पुरुष दीक्षा लेता है । उसके विचार में यशोधरा में स्त्रैण आकर्षण का अभाव है । इसी कारण सिद्धार्थ भिक्षु बन जाता है । "राजकुमार सिद्धार्थ आज गौतम बुद्ध बन कर आये, इसका श्रेय भी तो देवी यशोधरा को है । नहीं ?"[3] वह आगे पूछती है, "....देवी यशोधरा का आकर्षण यदि राजकुमार सिद्धार्थ को बाँधकर अपने पास रख सकता, तो क्या वे आज राजकुमार सिद्धार्थ ही न होते ? गौतम बुद्ध बन कर नदी-तट पर लोगों को उपदेश दे रहे होते ?"[4]

1· डॉ· गोविन्द चातक - आधुनिक नाटक का मसीहा मोहन राकेश - पृ·65
2· लहरों के राजहंस - पृ·78
3· वही - पृ·42
4· वही - पृ·43

अपने रूप-सौन्दर्य से नन्द को बांध रखने में सुन्दरी अपने अस्तित्व की सार्थकता पाती है । एक सीमा तक वह इस पर विजयी भी होती है । वह अभिमानिनी कहती है, "नारी का आकर्षण पुरुष को पुरुष बनाता है, तो उसका अपकर्षण उसे गौतम बुद्ध बना देता है ।"[1] बुद्ध और सुन्दरी दो ध्रुव हैं । बुद्ध सुन्दरी केलिए अपना प्रतिद्वन्द्वी है । वह हर समय उसके विरुद्ध काम करना चाहती है । अतः वह यशोधरा के दीक्षा ग्रहण के दिन ही कामोत्सव मनाने का निर्णय लेती है । राज्य में हर दिन लोग दीक्षा ले रहे हैं । दिन बीतते बीतते सुन्दरी बुद्ध के बढ़ते प्रभुत्व पर अस्वस्थ तथा अपने अस्तित्व पर शंकित होती जा रही है । अपने सीमित दायरे में वह यह सोच कर निश्चिंत होती है कि सौन्दर्य और अधिकार के बल पर सबको वश में लाया जा सकता है ।

दीक्षा लेना और आध्यात्मिक जीवन बिताना सुन्दरी की दृष्टि में पागलपन है । अथवा ज़िन्दगी की एकतानता से बचने का एक भ्रम मात्र है । इसलिए वह बुद्ध की बोध-प्राप्ति का परिहास करती है - "लोग कहते हैं कि गौतम बुद्ध ने बोध प्राप्त किया है, कामनाओं को जीता है । पर मैं कहती हूँ कि कामनाओं को जीता जाए, यह भी क्या मन की एक कामना नहीं है ?"[2] कामनाओं की जात पर नियन्त्रण करने के उद्देश्य से ही यशोधरा के दीक्षा दिवस पर वह कामोत्सव का आयोजन करती है । बुद्ध को पराजित करते हुए वह अपने अस्तित्व को सार्थक बनाना चाहती है ।

कामोत्सव में भाग लेने केलिए अतिथियों के न आने की खबर सुनकर सुन्दरी आहत हो जाती है । उसका सारा प्रयत्न व्यर्थ निकलता है । फिर भी वह पराजय नहीं मानती । वह बुद्ध से और संघर्ष करने केलिए तैयार होती है,

---

1. लहरों के राजहंस - पृ.43
2. वही

आर्य मैत्रेय से वह कहती है - "कामोत्सव कामना का उत्सव है, आर्य मैत्रेय । मैं अपनी आज की कामना कल केलिए टाल रखूँ.... क्यों ? मेरी कामना मेरे अन्तर की है । मेरे अन्तर में ही उसकी पूर्ति भी हो सकती है ।"[1] सुन्दरी के आहत अहं का स्वर इसमें मुखरित है । कामोत्सव की पराजय उसके सारे अस्तित्व को खण्डित कर देती है ।

भोगविलासों के जाल में अपने अस्तित्व को बनाए रखने का सारा प्रयत्न निष्फल होने पर सुन्दरी पहले पहल जीवन की विसंगति का सामना करती है वह बाह्य और आन्तरिक स्तर पर क्षत-विक्षत हो जाती है, "मैं अव्यवस्थित नहीं हूँ । किसी का षड्यंत्र मुझे अव्यवस्थित नहीं कर सकता ।"[2] अपनी सारी महत्वाकांक्षाओं को चकनाचूर होते देख कर वह छटपटाती है । सिर्फ प्रलाप करने की स्थिति में सुन्दरी जीवन की विसंगति का भागीदार बन जाती है ।

मल्लिका और सुन्दरी नारी के दो विभिन्न रूप हैं । सौन्दर्य जाल में पुरुष को बांध रखने में अपने अस्तित्व की सार्थकता पाने वाली सुन्दरी और प्रेमपात्र के अस्तित्व को बनाए रखने केलिए आत्म समर्पण करने वाली मल्लिका पर विडंबना की बात यह हैकि मल्लिका भी अनस्तित्व की व्यथा का शिकार बन जाती है । भावना में मल्लिका ने जिस भावना का वरण किया है वह भावना कालिदास है । वह संबन्ध ही उसकेलिए सब कुछ है, "मैं ने भावना में एक भावना का वरण किया है । मेरे लिए वह संबन्ध और सम्बन्धों से बड़ा है । मैं वास्तव में अपनी भावना से प्रेम करती हूँ जो पवित्र है, कोमल है, अनश्वर है ...."[3] ।

---

1. लहरों के राजहंस - पृ.74
2. वही - पृ.75
3. आषाढ का एक दिन - पृ.13

कालिदास को पूर्णत: समझने और उसके साथ के सम्बन्ध को सर्वाधिक मूल्यवान मानने की मनोवृत्ति से उद्भूत है यह कथन । इसमें एक भावुक युवती के हृदयोद्गार मात्र नहीं हैं । ये आपसी पहचान के अलौकिक सम्बन्धों के क्षणों के उद्गार हैं । कालिदास के चले जाने पर मल्लिका आन्तरिक स्तर पर संत्रस्त हो जाती है । वह अपने मन में शून्यता का अनुभव करती है । फिर भी वह अपने संकल्प से विचलित नहीं होती, "मैं जानती हूँ कि तुम्हारे चले जाने से मेरे अन्तर को एक रिक्तता छा लेगी । बाहर भी संभवत: बहुत सूना प्रतीत होगा । फिर भी मैं अपने साथ छल नहीं कर रही ।"[1]

सुन्दरी के समान मल्लिका में सौन्दर्यजन्य दंभ नहीं है । उसमें एक भव्य संकल्पना है जो उसके सारे अस्तित्व का मूल बिन्दु है । कालिदास की पत्नी बनने की उसमें प्रत्यक्ष आकांक्षा नहीं पर कालिदास की अलौकिक प्रतिभा के विकास में वहीं एक अनुदान बनने में वह अपने को सार्थक समझती है । अर्थात् वह कालिदास के कवि व्यक्तित्व को उच्च से उच्चतर स्थान प्राप्त करते देखना चाहती है ।[2] उसीमें वह अपने जीवन की, अस्तित्व की सार्थकता पाती है । पर विसंगति उसे भी घेर लेती है । समय की तेज़ रफ्तार में मल्लिका का जीवन बदल जाता है । अभावग्रस्त जीवन बिताने पर भी वह दृढ रहती है । लेकिन राजदुहिता प्रियंगुमंजरी का आगमन उसके आहत मन को और आहत करता है । मंजरी मल्लिका के सामने बहुत सारे प्रस्ताव रखती है, "देख रही हूँ तुम्हारा घर बहुत जर्जर स्थिति में है । इसका परिसंस्कार आवश्यक है । चाहो, तो मैं इस कार्य के लिए आदेश दे जाऊँगी ।"[3] आगे का कथन उसे अधिक सालती है । मल्लिका को राज्य के किसी भी अधिकारी के साथ ब्याह करा देने की प्रियंगुमंजरी की प्रभुता के सामने

---

1. आषाढ़ का एक दिन - पृ.47
2. वही - पृ.99
3. वही - पृ.76

वह पहली बार अपनी तुच्छता का अनुभव करती है । "सम्भवतः तुम उन दोनों में से किसी को भी अपने योग्य नहीं समझते । परन्तु राज्य में ये दो ही नहीं, और भी अनेक अधिकारी हैं । मेरे साथ चलो । तुम जिससे भी चाहोगी.....[1] ।" इन सारे मर्मविदारक आघातों को सहते हुए वह अकेली रहती है ।

राजधानी से वापस आये मातुल की बातें सुनकर मल्लिका आशंकित हो जाती है । कालिदास के सन्यास ग्रहण की बात उसकी सारी कल्पनाओं को निर्मूल कर देती है । "नहीं, तुम काशी नहीं गये । तुमने सन्यास नहीं लिया । मैं ने इसलिए तुमसे यहाँ से जाने केलिए नहीं कहा था । .... मैं ने इसलिए भी नहीं कहा था कि तुम जा कर कहीं का शासन भार सँभालो । फिर भी जब तुम ने ऐसा किया, मैं ने शुभ कामनाएं दीं - यद्यपि प्रत्यक्ष तुमने वे शुभ-कामनाएं ग्रहण नहीं कीं[2] ।" वैयक्तिक स्वार्थ सिद्धि की अपेक्षा कालिदास को कालिदास बनते रहने में कहीं एक अनुदान बन कर अपने को सार्थक पाना ही मल्लिका चाहती है, "मैं यद्यपि तुम्हारे जीवन में नहीं रही, परन्तु तुम मेरे जीवन में सदा बने रहे हो । मैं ने कभी तुम्हें अपने से दूर नहीं होने दिया । तुम रचना करते रहे, और मैं समझती रही कि मैं सार्थक हूँ, मेरे जीवन की भी कुछ उपलब्धि है । और आज तुम मेरे जीवन को इस तरह निरर्थक कर दोगे[3] ?"

इस विषम बिन्दु पर आने पर मल्लिका अपने अस्तित्व पर शंकित रह जाती है । अभावग्रस्त जीवन बिताते हुए वह कालिदास की सर्वोत्तम रचना केलिए कोरे पन्ने इकट्ठा करती है । कालिदास के सन्यासग्रहण का समाचार उसकेलिए कठोर आघात हो जाता है । जिस भावना को वर्षों से वह पालती रही उसका एकदम टूटना उसके जीवन की सबसे बड़ी विडंबना है, "परन्तु मैं ने

---

1. आषाढ का एक दिन - पृ.78
2. वही - पृ.99
3. वही - पृ.99

यह सब सह लिया । इसलिए कि मैं टूटकर भी अनुभव करती रही कि तुम बन रहे हो । क्योंकि मैं अपने को अपने में न देख कर तुम में देखती थी । और आज यह सुन रही हूँ कि तुम सब छोड़कर सन्यास ले रहे हो ? तटस्थ हो रहे हो ?"[1]

मल्लिका के जीवन का एकमात्र लक्ष्य था कालिदास को कवि सार्वभौम देखना । ज़िन्दगी के उत्तरार्द्ध में कवि कालिदास को पथभ्रष्ट होते देखकर मल्लिका का जीवन त्रस्त बन जाता है । आत्मसमर्पण के बेकार हो जाने की पीड़ा से उत्पन्न निराशा, कुंठा एवं शिथिलता मल्लिका को अस्तित्वहीन बनाती है ।

"आधे अधूरे" वाह्यरूपेण यह एक सामाजिक नाटक है जो कि आर्थिक विपन्नता के चारों तरफ बुना गया है । मध्यवर्गी परिवार के सन्दर्भ में, टूटते बिगड़ते संबन्धों की एक त्रासदी होते हुए भी यह शहरीकरण के सन्दर्भ में मनुष्य के भीतर छिपी हुई पूर्णता की खोज से भी संबन्धित है । महेन्द्रनाथ एक अपूर्ण पुरुष है । उसका व्यक्तित्व अधूरा है । इसलिए उसके अनेक रूप है । इससे असन्तुष्ट सावित्री अन्य पुरुषों से संपर्क निभाती है । लेकिन उसको यह अनुभव होता है कि महेन्द्रनाथ की अपूर्णता अन्य पुरुषों में भी व्याप्त है । इसलिए उसकी तलाश अधूरी रह जाती है ।

महेन्द्र के बेकार होने पर सावित्री को घर की सारी जिम्मेदारी का वहन करना पड़ता है । इसीलिए वह नौकरी करती है । दिन भर दफ्तर के कार्यों में उलझे रहने के बाद सावित्री को एक पूरे घर का बोझ उठाना पड़ता है । जिसके साथ कईयों की ज़िन्दगी जुड़ी रहती है । वहाँ उसका पति महेन्द्र, बड़ी लड़की बिन्नी, छोटी लड़की किन्नी और पुत्र अशोक हैं । इनके बीच कोई मेलमिलाप नहीं प्रत्येक सदस्य अपने अपने मनमाने चलता है । बड़ी लड़की का

---

1. आषाढ़ का एक दिन - पृ.101

पलायन, छोटी लड़की का मनमाना व्यवहार, घर घुसरा नालायक पति, लड़कियों के दिन काटते रहने वाला आलसी पुत्र अशोक इस घर की अनमेल इकाइयाँ हैं। एक ही घर के सदस्य होने पर भी सब एक दूसरे से कटे हुए।

सावित्री उनके बीच खड़ी स्वयं को कोसती रहती है। उस घर को ठीक [illegible] बनाने का उसका सारा प्रयत्न बेकार सिद्ध हो जाता है। अशोक को कहीं नौकरी दिलाने की कोशिश में वह सिंघानिया से संबंध जोड़ती है, "इसलिए कि किसी तरह इस घर का कुछ बन सके। मेरे अकेली के ऊपर बहुत बोझ है इस घर का जिसे कोई और भी मेरे साथ ढोने वाला हो सके।"[1] किसी न किसी प्रकार घर को सुधारने के प्रयत्न में सावित्री पग पग पर पराजित होती है। अपने घर में वह स्वयं को अवांछित महसूस करती है। उसको मानने और उसकी उपस्थिति को चाहने वाला उधर कोई नहीं। सब पैसे केलिए उससे जुड़े रहते हैं, "यहाँ पर सब लोग समझते क्या हैं मुझे ? एक मशीन, जो कि सब केलिए आटा पीस पीसकर रात को दिन और दिन को रात करती रहती है ? मगर किसी के मन में ज़रा-सी भी ख्याल नहीं है इस चीज़ केलिए कि कैसे मैं....[2]

आर्थिक स्वावलम्बिता ने आधुनिक नारी में अपने लिए योग्य पति को चुनने और अयोग्य लगने पर छोड़ने की हिम्मत दी है। फलत: एक ही घर में पति पत्नी दोनों अपने अपने व्यक्तित्व पर बल देते हैं और परिवार का ढाँचा बेढंगा हो जाता है। नौकरी पेशा पत्नी सावित्री की छाया तले रहने की स्थिति में महेन्द्र अपने को नालायक और अधूरा महसूस करता है। महेन्द्र की विसंगति आर्थिक विपन्नता से उद्भूत है। सालों तक घर संभालने के बाद आर्थिक मुश्किलों में वह बुरी तरह फँस जाता है। परिणामत: पत्नी तथा संतानों केलिए वह घर-घुसरा और नालायक मोहरा बन जाता है। हर कोई उससे निन्दापूर्ण व्यवहार

---

1. मोहन राकेश - आधे अधूरे - पृ.53
2. वही - पृ.43

करता है । इस विघटित स्थिति में महेन्द्रनाथ अपने आप को भूल कर बोल उठता है, "हाँ पूछ कर ही जानना है आज । कितने साल हो चुके हैं मुझे ज़िन्दगी का भार ढोते ? उनमें से कितने साल बीते मेरे इस परिवार की देखरेख करते ? और उस सब के बाद में आज पहुँचा कहाँ हूँ ? कि यहाँ जिसे देखो मुझ से उल्टे ढंग से बात करता है ? जिसे देखो वही मुझसे बदतमीज़ी से पेश आता है ?"[1] अपनी वासद स्थिति से असन्तुष्ट होकर वह आगे कहता है, "मैं इस घर में एक रबड़ स्टैंप भी नहीं सिर्फ एक रबड़ का टुकड़ा हूँ - बार बार घिसा जानेवाला रबड़ का टुकड़ा[2] ।" अनस्तित्व की तड़प महेन्द्र में स्पष्ट है ।

आर्थिक विपन्नता व्यक्तियों के आपसी रिश्तों का विच्छेद करती है ऐसी परिस्थिति से व्यक्ति का उभर उठना दूभर हो जाता है । "पाँचवें माले का फ्लैट" कहानी का अविनाश कपूर इसी दुविधा से परेशान है । आर्थिक विपन्नता के कारण उसे विशृंखलित जीवन बिताना पड़ता है । उसका स्वाभिमान नष्ट हो जाता है । वह स्वयं को तथा परिवेश को भी अपरिचित अनुभव करता है "अँधेरे जीने का ख्याल आया । एक के बाद एक पाँच माले । पहले माले पर सारी खिड़कियों की सड़ाँध । दूसरे पर शोरबे की बास । तीसरे पर कुछ और अनारदार की बू । चौथे पर आयुर्वेदिक औषधियों की गंध । पाँचवें माले की बू का ठीक पता नहीं चलता था । प्रमिला ने तब कहा था कि सबसे तेज़ बू यही है[3] ।"

आर्थिक कठिनाई के कारण वह प्रमीला और सरला से भी जुड़ नहीं पाता । वह विषमताओं को ढोते ढोते जीर्ण होता है । उसकी स्थिति उस कमरे के समान विकृत है । जिसमें वह रहता है । फ्लैट देखने आयी सहेलियों का कथन उसे और अधिक संत्रस्त कर देता है । "यह पानी कब का है ? मराठों के

---

1. आधे अधूरे - पृ.38
2. - पृ.38
3. पेरा - था अन्य कहानियाँ - पृ.202

ज़माने का ? .... पढ़ने की मेज़ पर यह क्या चीज़ रखी है ? साबुन की टिकिया ? मैं ने समझा पेपर वेट है ...... यह गुसलखाना तो अच्छा खासा अजायब घर है । मैं तो समझती हूँ कि अन्दर जानेवालों से एक एक आना टिकट वसूल किया जा सकता है ।"[1] महानगरीय सभ्यता की यह विशेषता है कि उसमें व्यक्ति के व्यक्तित्व का कोई मूल्य नहीं रह जाता । अविनाश का जीवन यही साबित करता है ।

संबन्धों की शिथिलता के कारण अस्तित्वहीन बना व्यक्ति अपने को अँधेरे कमरे में बंद पाता है । महेन्द्रनाथ और सावित्री की व्यथा के और एक पहलू को "अँधेरे बन्द कमरे" में हरबंस और नीलिमा उभारती है । हरबंस और नीलिमा पति-पत्नी हैं, पर दोनों भिन्न राहों के यात्री हैं । एक साथ रहने केलिए विवश भी । उनकी विसंगति यह है कि वे कुछ बनना चाहते हैं पर बन नहीं पाते । इसकेलिए वे एक दूसरे को दोषी ठहराते हैं । फलतः पति - पत्नी के रूप में उनका संबन्ध टूट जाता है । वे दोनों अपनी अपनी राह से आगे बढ़ना चाहते हैं । जीवनभार्गव उनका दोस्त है । उसके बुरे व्यवहार के कारण हरबंस उसे घर आने-जाने से रोकता है । लेकिन नीलिमा ने इस निर्णय पर क्रुद्ध होकर हरबंस से जो कुछ कहा वह उसके दिल को टुकड़ा कर देता है, "उसने कहा कि वह उसके पिता का घर है, उस घर में किसी को आने जाने से रोकने वाला वह कौन है ?"[2]

हरबंस अपने परिवार में एक अयाचित इकाई बन जाता है । वह पत्नी से तिरस्कृत-सा है । हरबंस अपनी व्यथा को उपन्यास का रूप देने का प्रयत्न करता है । मधुसूदन के साथ हुई बातचीत से यह स्पष्ट है, "मैं ने रमेश खन्ना का नाम ऐसे ही ले लिया था, मैं वह उपन्यास दर असल अपने बारे में ही लिखना चाहता था ।"[3]

---

1. मोहन राकेश : पहचान तथा अन्य कहानियाँ - पृ.204
2. मोहन राकेश : अँधेरे बन्द कमरे - पृ.103
3. वही - पृ.100

पत्नी तथा दोस्तों से कटे हुए हरबंस में एक अजीब बेबसी है। इस बेबसी में वह बहुत कुछ कर डालता है। पर वह कुछ निर्णय नहीं ले पाता, "मुझे कुछ समझ में नहीं आता कि मैं क्या चाहता हूँ। कोई चीज़ है जिसे मैं बहुत शिद्दत के साथ महसूस करता हूँ, मगर ······ मगर मैं जब लिखना चाहता हूँ, तो मुझ से कुछ भी लिखा नहीं जाता। ······ एक अजीब सी बेबसी महसूस होती है। जैसे मैं एक कवच में जकड़ा हुआ हूँ जो मेरे लाख कोशिश करने पर भी टूट नहीं पाता। मुझे यह भी समझ में नहीं आता कि मैं लिखना ही चाहूँ या कुछ और चाहता हूँ।[1]" कहीं भी स्थिर न पा सकने की स्थिति में हरबंस ठंडा ही रहा है।

नीलिमा अपने ऊपर किसी का अधिकार नहीं सह सकती। नर्तकी बनने की भूख है उसमें। उसके लिए वह सब कुछ छोड़ने - तोड़ने को तैयार है। इसका फल यह होता है कि दोनों एक दूसरे से अनभिज्ञ हो जाते हैं, "हमारा ब्याह हुए तीन साल हो गए, मगर मैं तुम्हें आज तक नहीं समझ सकी।[2]"

नीलिमा अपना अस्तित्व नृत्य कला में पाना चाहती है पर हरबंस उसे उस क्षेत्र से बाहर लाना चाहता है। इस आपसी संघर्ष में उनके दाम्पत्य जीवन में दरारें पड़ जाती हैं, "जो भी मैं चाहती हूँ; वह हरबंस करने नहीं देता, इसलिए मैं पेंट करके ही मन बहलाने की कोशिश करती हूँ·····। मैं चाहती थी कुछ दिनों केलिए मैसूर जाकर भरत नाट्यम की ट्रेनिंग ले लूँ, मगर हरबंस मुझे जाने की इजाज़त ही नहीं देता। उसने तो मेरी कथक की प्रेक्टिस भी छुड़ा दी है।[3]"

1· अधूरे बन्द कमरे - पृ·87

2· वही - पृ·84

3· वही - पृ·76

इस प्रकार विघटित जीवन को ढोते रहने की स्थिति में हरबंस और नीलिमा एक दूसरे केलिए अभिशाप्त बन जाते हैं । वे परिचित होते हुए भी बिलकुल अपरिचित हैं। ज़िन्दगी को शाप के रूप में बिताते हुए हरबंस और नीलिमा अपने अपने कभी न मिलने वाले मार्ग की ओर चली जाती है ।

"एक और ज़िन्दगी" शीर्षक कहानी में प्रकाश और बीना जैसे पात्रों के वैवाहिक संबन्धों की शिथिलता है । पलाश उनका बच्चा है । पर बच्चा भी उनके पारस्परिक संबंध की शिथिलता दूर करने का माध्यम नहीं बनता । इस प्रकार के विघटित जीवन के भागीदार हैं प्रकाश और बीना । "ब्याह के कुछ महीने बाद ही पति-पत्नी अलग रहने लगे । ब्याह के साथ जो सूत्र जुड़ना चाहिए था वह जुड़ नहीं सका[1] ।"

विसंगति का एक और स्वर इस कहानी में गुंजायमान है । संयोग से जब दो व्यक्ति जुड़ जाते हैं और उनके जुड़ाव की कोई अर्थ व्याप्ति जब नहीं रह जाती तो उनकेलिए वह संबन्ध भी समस्या में परिणत होता है । जब प्रकाश अपने पिता होने का दावा करता है तो बीना का उत्तर इस प्रकार है, "यह तो एक आकस्मिक घटना ही है कि आप इसके पिता हैं[2] ।"

"फौलाद का आकाश" भी पति पत्नी के टूटने की कहानी है । विपरीत मनःस्थितियों की दुविधा प्रस्तुत कहानी में रेखांकित है जहाँ व्यक्ति की अभिलाषा और यथार्थ का कोई ताल-मेल नहीं है । रवि और मीरा पति-पत्नी हैं, "रवि को जब उसने अपने लिए पसन्द किया था, तो उसमें उसका ढूँढा

---

1. मोहन राकेश : रोयें रेशे [सं.] पृ.९१।
2. वही - पृ.९२

डी॰फिल क्या एक बड़ा कारण नहीं था ? उन दिनों रवि की ज़बान पर हर वक्त आंकड़े नहीं रहते थे और इतना उबाऊ भी नहीं था । तब वह एक कालेज में साधारण लेक्चरर था - स्टील प्लांट में लेबर एडवाईज़र नहीं ।[1]"

रवि के साथ मीरा ने संतुष्ट जीवन की कल्पना की थी । पर शादी के बाद उसकी कामना की पूर्ति नहीं हुई । रवि हमेशा फाक्टरी की समस्याओं पर व्यस्त था । एक पत्नी की ज़रूरतों की ओर उसने ध्यान नहीं दिया । अतः दोनों एक ही घर में अलग अलग इकाई बन कर रह जाते हैं । मीरा की विसंगति यह है कि वह इस विघटित परिस्थिति के साथ समझौता करने केलिए विवश है ।

विपरीत मानसिकता के पति-पत्नियों के एक साथ जुड़े रहने की अभिशप्तता भोगनेवाले दम्पतियों की कहानी है "अपरिचित" । कहानी की "स्त्री" पति से परित्यक्त न होने पर भी उसका जीवन परित्यक्ता के समान है । यह इस कहानी का वस्तुवादी आयाम है पर उसका एक अगला चरण है जहाँ वह स्त्री अपनी भावनाओं को मूल्य देती हुई जी रही है । पर जिस वातावरण में वह रहने केलिए मजबूर हो रही है उस में उसकी भावनाएं निर्मूल सिद्ध होती है, "इन्हें मेरी कोई आदत अच्छी नहीं लगती । मेरा मन होता है कि चांदनी रात में खेतों में घूमूं या नदी में पैर डालकर घंटों बैठी रहूं, मगर ये कहते हैं कि ये सब अल्हड़ मन की वृत्तियाँ हैं । इन्हें क्लब, संगीत सभाएं और डिन्नर पार्टियाँ अच्छी लगती हैं । मैं इनके साथ वहाँ जाती हूँ तो मेरा दम घुटने लगता है । मुझे वहाँ ज़रा अपनापन महसूस नहीं होता[2] ।"

---

1. मोहन राकेश : फौलाद का आकाश [सं॰] पृ॰74
2. मोहन राकेश : रोएँ रेशे [सं॰] पृ॰77-78

इसी प्रकार कहानी का एक अन्य पुरुष पात्र है, जिसका कोई नाम नहीं दिया गया है, जो वैवाहिक जीवन में बंधने के बाद भी अकेलापन अनुभव करता है। "मैं" कहता है, "मैं ने विवाह के पहले दिनों में ही जान लिया था कि नलिनी मुझ से विवाह करके सुखी नहीं हो सकती। क्योंकि मैं उसकी कोई भी महत्वाकांक्षा पूरी करने में सहायक नहीं हो सकता। वह एक भरा-पूरा घर चाहती थी, जिसमें उसका शासन हो और ऐसा सामाजिक जिसमें उसे महत्व का दर्जा प्राप्त हो। वह अपने से स्वतंत्र अपने पति के मानसिक जीवन की कल्पना नहीं करती थी[1]।"

आपसी पहचान और समझौते के अभाव में एक दूसरे को सहने की स्थिति में "न आने वाला कल" के मनोज सक्सेना और शोभा भी पहुँचती है। शोभा मनोज के साथ जीने और उस नई परिस्थिति से सहमत होने में अपने को असमर्थ पाती है, 'यहाँ के लोग, यहाँ के रंग ढंग सभी बहुत अजीब है। मुझे तो लगता है कि मैं इसी तरह यहाँ रहती रही, तो जल्दी ही पागल हो जाऊँगी[2]।"

पति-पत्नी के रूप में मनोज और शोभा के बीच उस घनिष्ठता का अ अभाव है जो उन्हें एकसूत्र में बांधे। ये दोनों अपने अपने सीमित दायरे के बाहर आते नहीं। एक दुर्बल समझौते पर जी रहे हैं जिसका टूटना हर निमिष संभव है, "....... न तो हम अपनी हदें तोड़ सकते हैं और न ही एक दूसरे की हदबन्दी को पार कर सकते हैं। हमने एक युद्ध-विराम में जीना शुरू कर दिया था। उस युद्ध विराम की दोनों की अपनी अपनी शर्तें थीं - अपने - अपने तक सीमित[3]।"

इसकी विवशता यह है कि दोनों अलग नहीं हो सकते, जुड़कर स्वस्थ रह भी नहीं सकते। मनोज और शोभा एक दूसरे को चाहता नहीं बल्कि सहता है

---

[1] मोहन राकेश - रोयें रेशे [सं.] - पृ.80

[2] मोहन राकेश - न आने वाला कल- पृ.18

[3] वही पृ. 17

"शोभा केलिए प्रश्न था विरोधी परिस्थितियों में लिए गए अपने निर्णय का मान रखने का, मेरेलिए पहले की बनी अपनी गलत तस्वीर को सही साबित न होने देने का ।[1]" विघटित ज़िन्दगी के साथ जुड़े रहने की विवशता में दोनों कुंठित हैं

मनोज केलिए शोभा अपनी पत्नी नहीं कोई परकीय नारी है, जो अपना घर सभालती है । शोभा की शादी पहले और किसी के साथ हो चुकी थी । इसलिए मनोज के मन में उस तीसरे आदमी का बोध है । पैंतीस साल तक अकेले रहने के बाद अपने जीवन की एकरसता और ऊब को मिटाने केलिए शोभा से वह जुड़ जाता है । लेकिन दोनों जुड़ने के बाद अलग अलग इकाई बन कर एक ही छत के नीचे घुटते रहते हैं । मनोज कहता है, "उसकी नज़र में मैं अब भी एक अकेला आदमी था जिसका घर उसे संभालना पड़ रहा था जब कि मेरे लिए वह किसी दूसरी की पत्नी थी जिसके घर में मैं एक बेतुके मेहमान की तरह टिका था ।[2]"

मनोज अपने घर में मेहमान बन जाता है । उसका संत्रास बढ़ता ही रहता है । शोभा केलिए वह एक अर्थहीन पुरुष है । एक तरह से नालायक । सावित्री केलिए जैसा महेन्द्र था और नीलिमा केलिए हरबंस वैसे ही शोभा केलिए मनोज भी मिसफिट और अधूरा लगता है, "...... एक ऐसे आदमी के साथ मैं ने अपनी ज़िन्दगी को उलझ जाने दिया है जिसके पास मुझे दे सकने केलिए कुछ नहीं था, किसी को भी दे सकने केलिए नहीं था ।[3]"

हरबंस केलिए अपना घर काली कोठरी है तो महेन्द्र घर में कीड़ा जैसा है । मनोज केलिए अपना घर मकबरा है, "मुझे लगा कि पगडण्डी से उतरकर मुझे अब मकबरे के अन्दर अपने ताबूत में जा लेटना है । मन में उस

1· न आने वाला कल - पृ·25

2· वही - पृ·16

3· वही - पृ·126

दिनों का अहसास ताज़ा हो आया जब शादी नहीं की थी । तब भी यह घर मुझे एक बन्द तहखाने की तरह लगा करता था जहाँ उतर कर जाने मन में एक दहशत भर जाती थी ।[1]" अधूरे कामकु आदमी के साथ जीवन बिताने की विसंगति में शोभा अपने को अस्तित्वहीन समझती है तो अपने गृहस्थी मकबरे के ताबूत में किसी दूसरी की स्त्री के साथ लेटने की विसंगति का शिकार है मनोज ।

"ग्लास टैंक" की नीरू और मम्मा अपने घर में ग्लास टैंक में बन्द मछलियों के समान हैं । वे एक दूसरे से कटे हुए हैं । घर के उदास माहौल में तनावग्रस्त सदस्यों बीच रहने की विसंगति नीरू को अधिक संत्रस्त करती है । टैंक पर हर मछली आ टकराती है कि वह टूट जाये । पर वह यह नहीं जानती कि उससे अथवा उसके बस की बात नहीं । वह उसके अन्दर बन्द रहने केलिए अभिशप्त है । उसी प्रकार नीरू अपने घर में अभिशप्त जीवन बिता रही है । उसके अपने शब्दों में यह स्थिति अधिक स्पष्ट है, "मुझे पानी केलिए कभी इनका जी नहीं तरसता ? कभी इन्हें महसूस नहीं होता कि ये सब एक एक और अकेली है ? कभी ये एक दूसरी से कुछ कहना चाहती है ? या कभी शीशे से इसलिए टकराती हैकि शीशा टूट जाये ? शीशे के और आपस के बन्धन से ये मुक्त हो जायें ?[2]"

नीरू ही नहीं उसकी माँ भी उस घर से मुक्ति चाहती है । पर विसंगति की बात यह है कि इसके लिए दोनों सुभाष की प्रतीक्षा करती हैं । इस तीसरे आदमी की प्रतीक्षा ही कहानी की पूरी अर्थ व्याप्ति को व्यक्त करती है । पर शिवप्रसाद सिंह ने इस कहानी की आलोचना करते कहा, "पति-पत्नी के बीच तनाव और उनके दरम्यान किसी तीसरे का प्रवेश । किसी "तीसरे आदमी" का प्रवेश तो "तमाशा" और ग्लास टैंक में भी है, पर वह स्थिति मात्र बन कर रह जाता है, अर्थ या कथ्य नहीं बनता । क्यों कि वहाँ माँ और पुत्री वाली समस्या ही प्रधान रहती है ।[3]"

---

1. न आने वाला कल - पृ.28
2. मोहन राकेश - रोयें रेशे [सं.] - पृ.31
3. शिवप्रसाद सिंह - आधुनिक परिवेश और नवलेखन - पृ.179

यह कथन पूर्ण रूप से स्वीकार्य नहीं प्रतीत होता । माँ-पुत्रीवाली समस्या तो अवश्य है । पर दोनों सुभाष नामक बाहर के आदमी की प्रतीक्षा में हैं । तनाव और संत्रास ग्रस्त वातावरण से मुक्ति का छटपटाहट करने वाली माँ और पुत्री के सन्दर्भ में यह तीसरा आदमी कहानी में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है । इसलिए उसका प्रवेश अवांछनीय है, यह कहना तर्कसंगत नहीं ।

"पैर तले की ज़मीन" के अयूब और उसकी पत्नी सलमा के जीवन में भी एक तीसरे आदमी का अस्तित्व है जो इनके आपसी सम्बन्ध को नष्टभ्रष्ट कर डालता है । अयूब केलिए सलमा एक कब्रिस्तान है । अतः वह यह भी अनुभव करता है कि उसकी अपनी ज़िन्दगी भी एक कब्रिस्तान की तरह है । सलमा का एक डाक्टर से भी सम्बन्ध है । इसकी खबर अयूब को उद्विग्न कर देती है । वह पण्डित से कहता है, "मेरी बीवी की ज़िन्दगी में और कोई नहीं है, पर मेरे लिए वह एक कब्रिस्तान बन गई है .... औरत कब्रिस्तान क्यों बन जाती है ?"[1] इस स्थिति में वह और किसी स्त्री से संबन्ध जोड़ना नहीं चाहता ।

अयूब स्वयं विह्वल है । अपने को बेहद असुरक्षित पाता है, "कुछ समझ में नहीं आता । कुछ समझ में नहीं आता कि क्या चाहता हूँ - खास तौर से जब रात उतरती है, ये आवाज़ें सुनाई देती हैं, तो क्यों इतना छटपटाने लगता हूँ ?"[2] इस छटपटाहट की वजह से वह कहीं भी स्वस्थ नहीं रह पाता । हर समय अस्वस्थ होकर अनैतिक व्यवहार में भटकता रहता है ।

इस प्रकार राकेश के सभी पात्र अपनी ज़िन्दगी में कहीं पराजित होकर, कहीं टूटकर अस्तित्व की पीड़ा के निरंतर भोगी बनते दिखाई पड़ते हैं ।

---

1. मोहन राकेश - पैर तले की ज़मीन - पृ.46
2. वही - पृ.59

सही निर्णय पर न आ सकने की विवशता

अनिश्चितता आधुनिक जीवन का एक बहुत बड़ा अभिशाप है । अपने अस्तित्व से उखड़े हुए लोगों के सामने यह अनिश्चितता भटकती रहती है । उसकी ज़िन्दगी भी अनिश्चितता के एक छोर पर आकर बिखर जाती है । वह अपने को किसी भी स्थिति में स्वस्थ नहीं पा सकता । वह हर कहीं शंकाग्रस्त है । विघटित परिवेश में आगे कुछ साहस करने में वह शंकाग्रस्त है । कहीं स्वस्थ न बन पा सकने की स्थिति में व्यक्ति अपने आप अनिश्चितता का शिकार बन जाता है । "आषाढ़ का एक दिन" का कालिदास इस अनिश्चितता के भंवर में पड़ा हुआ है । राज्य की ओर से सम्मानित होने की खबर सुनकर वह अधिक अस्थिर हो जाता है । राजधानी की परिस्थिति से वह बिल्कुल अनभिज्ञ है । एक परिवेश उसे प्रतिकूल सिद्ध हो चुका है । और एक अस्वस्थ वातावरण का सामना करना वह चाहता नहीं । अपनी अस्तित्वहीनता का बोध उसके मन में निरंतर भारी बनता जा रहा है । इस तरह मन में दुविधा उत्पन्न होती है कि जाना है या नहीं जाना है ? कालिदास उज्जयिनी जाने में उत्सुक है । उसके लिए बाधा वास्तव में मल्लिका नहीं बल्कि उसका शंकाग्रस्त मन है, 'प्रश्न सम्मान और राज्याश्रय स्वीकार करने का नहीं है । उससे कहीं बड़ा एक प्रश्न मेरे सामने है[1] ।"

सन्देह एक प्रश्न चिह्न बन कर उसके सामने खड़ा है । कालिदास के लिए ग्राम प्रांतर और मल्लिका अपने सृजन की उर्वर भूमि है । यह भी नहीं उस ग्राम प्रांतर के अणु अणु से उसका संबन्ध भी है । उससे अलग हो जाना वह चाहता भी नहीं, "मैं अनुभव करता हूँ कि यह ग्राम प्रांतर मेरी वास्तविक भूमि है । मैं कई सूत्रों से इस भूमि से जुड़ा हूँ । उन सूत्रों में तुम हो, यह आकाश और ये मेघ हैं, यहाँ की हरियाली है, हरिणों के बच्चे हैं, पशुपाल है । यहाँ से जाकर मैं अपनी भूमि से उखड़ जाऊँगा[2] ।"

---

1. आषाढ़ का एक दिन - पृ.46
2. वही - पृ.48

कालिदास वास्तव में अपने ग्राम के उन आदमियों से बचना चाहता है जो निरंतर उसका परिहास करते हैं न कि उस परिवेश से। लेकिन उसमें सन्देह है कि बदली परिस्थिति में उसका क्या हो जाएगा, "फिर भी कई कई आशंकाएं उठती हैं। मुझे हृदय में उत्साह का अनुभव नहीं होता।"[1] यह कालिदास की विसंगति का और एक पहलू है। सही निर्णय लेने में वह सचमुच असमर्थ है। मस्तिष्क के सहारे वह जिस निर्णय पर पहुँचता है वह भी मात्र एक समझौता रह जाता है।

सुन्दरी और बुद्ध के बीच डाँवाडोल होने वाला नन्द भी सही निर्णय पर न पहुँच सकने की विसंगति का मूर्तिमान रूप है। सुन्दरी और बुद्ध के प्रभुत्व के बीच नन्द टिक नहीं पाता। वह किसी को पूर्णतः अपनाने में असमर्थ है। श्यामांग का उन्मादग्रस्त क्रन्दन वास्तव में नन्द के दुविधाग्रस्त मन का प्रलाप है, "कोई उपाय नहीं है ...... कोई मार्ग नहीं है .... इन लहरों पर से ...... लहरों पर से .... यह छाया हटा दो ...... मुझ से ...... मुझ से यह छाया नहीं ओढ़ी जाती।"[2] बुद्ध की छाया उससे ओढ़ी नहीं जाती।

नन्द सुन्दरी से पूर्णतः भिन्न भी नहीं सकता। इस प्रकार बुद्ध और सुन्दरी के बीच अथवा आध्यात्मिकता और भौतिकता के बीच किसी एक को पूर्ण रूप से न अपना सकने की स्थिति में नन्द की विसंगति दुगुनी हो जाती है, "एक को स्वीकारने और दूसरे को नकारने में भय, संत्रास, अधूरेपन और विवशता का अहसास आड़े आता है। फलतः नन्द चुनाव नहीं करता। चुनाव कर लेता तो भी किसी एक *सार्थ समझता*। *चुनाव कर लेना तो* पक्ष की स्वीकृति उस केलिए संघातक सिद्ध हुए बिना नहीं रहती। मनुष्य हर हालत में विसंगति से ग्रस्त होने केलिए बाध्य है।"[3]

---

1. आषाढ़ का एक दिन - पृ.49
2. लहरों के राजहंस - पृ.78
3. डॉ. गोविन्द चातक - आधुनिक नाटक का मसीहा मोहन राकेश - पृ.79

"आधे अधूरे" की सावित्री केलिए अपना घर नरक है । नालायक अधूरा पति, अपने प्रेमी के साथ भागकर वापस आयी बड़ी लड़की, निष्क्रिय और आलसी लड़का, कम उम्र में ही अपने मनमाने और अनैतिक रास्ते पर चलने वाली छोटी लड़की सब सावित्री को चारों ओर से नोच रहे हैं । उस घर में इसलिए वह अपने को पूर्णत: असुरक्षित पाती है । असुरक्षा-बोध से संत्रस्त सावित्री के लिए अपना घर कब के टूट चुका है । शेष ज़िन्दगी उसकेलिए अर्थहीन है । वह इन दोनों को सुधारने केलिए कुछ करना चाहती है । पर उसका हर निर्णय गलत साबित होता है । सही निर्णय पर न पहुँच पाने के कारण उसे एक से अधिक पुरुषों से संपर्क करना पड़ता है । वह अपने एक प्रेमी जगमोहन से कहती है, "मेरेलिए पहले भी असंभव था यहाँ यह सब सहना । तुम जानते ही हो । पर अब बिलकुल असंभव हो गया है[1] ।"

"न आने वाला कल" का मनोज सक्सेना अपनी सारी विवशताओं के कारणों से अशान्त है । वह जानता है कि वह जिस वातावरण में जी रहा है वह उसकेलिए योग्य नहीं । शोभा के साथ का जीवन उसकी नज़र में अभिशाप है । पर उससे मुक्त होने केलिए किस मार्ग को अपनाये, यही समस्या है, "दो चीज़ें सामने थीं । स्कूल के जूनियर हिन्दी मास्टर के रूप में ज़िन्दगी मेरी अपनी नहीं थी । मुझे इसे लेकर कुछ करना था । शोभा के पति के रूप में ज़िन्दगी भी मेरी अपनी ज़िन्दगी नहीं थी । उसे लेकर भी कुछ करना था[2] ।"

मनोज इन दोनों पदों को लेकर कुछ करना चाहता है । पर उससे मुक्त होने का हर विचार उसे अधिक अस्थिर बना डालता है, "स्कूल से त्यागपत्र दे देने से शोभा के साथ अपने संबन्ध की स्थिति हल नहीं हो सकती थी.।

---

1. आधे अधूरे - पृ.7।
2. न आनेवाला कल - पृ.30

शोभा से अपने को काट लेने से स्कूल की यंत्रणा से नहीं बचा जा सकता था । तो आवश्यक यह नहीं था कि दोनों कदम साथ साथ उठाए जाएं ?"[1]

विपरीत मानसिकता वाले पति-पत्नी अपने अपने निर्णय को सही साबित करने के प्रयत्न में एक दूसरे से कट जाते हैं । अन्त में उनका सारा निर्णय गलत साबित होता है । वे एक दूसरे से दुश्मन का जैसा व्यवहार करते हैं । "अंधेरे बन्द कमरे" की नीलिमा और हरबंस दोनों पारिवारिक जीवन की विषमता को भोगते हुए फिर से उसी में जुड़े रहने की मजबूरी में पहुंच जाते हैं । हरबंस कहता है, "..... जिस घर में मैं रहता हूं, वह मेरा घर नहीं है और जिसे मैं अपनी पत्नी समझता हूं, वह मेरी पत्नी नहीं है[2] ।"

प्रस्थान की अर्थहीनता

अस्तित्व के विघटन से संत्रस्त व्यक्ति उससे मुक्त होने की बेचैनी में अपने परिवेश से प्रस्थान करता है । यह प्रस्थान अस्तित्व की पीड़ा की सहज प्रतिक्रिया है । पर विसंगति यह है कि वह प्रस्थान की निरर्थकता से करीब-करीब परिचित है । राकेश के अधिकांश पात्र प्रस्थान करते हुए दिखाई पड़ते हैं । "आषाढ़ का एक दिन" का कालिदास उज्जयिनी की ओर प्रस्थान करता है अपनी किसी अभाव की पूर्ति केलिए । पर कालिदास का कवि उस परिवेश में जर्जर होता है । यह वातावरण बिलकुल उसे बिलकुल सह्य नहीं है । अपने प्रस्थान की निरर्थकता को भोगते हुए कालिदास कहता है, "अधिकार मिला, सम्मान बहुत मिला, जो कुछ मैं ने लिखा उसकी प्रतिलिपियाँ देश भर में पहुंच गयीं, परन्तु मैं सुखी नहीं हुआ । किसी और केलिए वह वातावरण और जीवन

---

1. न आने वाला कल - पृ.30
2. अंधेरे बन्द कमरे - पृ.104

स्वाभाविक हो सकता था, मेरे लिए नहीं था । एक राज्याधिकारी का कार्य क्षेत्र मेरे कार्य क्षेत्र से भिन्न था । मुझे बार बार अनुभव होता कि मैं ने प्रभुता और सुविधा के मोह में पड़कर उस क्षेत्र में अनधिकार प्रवेशकिया है, और जिस विशाल में मुझे रहना चाहिए था उससे दूर हट आया हूँ[1] ।" स्पष्ट है कालिदास का प्रस्थान निरर्थक बन गया । सार्थक बनने के बदले उसका अस्तित्व खण्डित होता रहा । अपनी सार्थकता की तलाश में नयी भूमि पर पहुँचा कालिदास सारे वातावरणों से असंतुष्ट हो कर वापस आने केलिए विवश बन जाता है । यहीं कालिदास का प्रस्थान अर्थहीन निकलता है ।

बुद्ध के पास पहुँचने पर नन्द का बाल काट दिया जाता है और उसके हाथों में बुद्ध भिक्षा पात्र रख देता है । बुद्ध का यह मार्ग नन्द को कभी स्वीकार्य नहीं था । पर परिस्थिति का मौन होकर उसे सहन करना पड़ता है । अपनी उस समय की असहाय स्थिति का स्मरण करता हुआ नंद कहता है, "परन्तु उस प्रवृत्ति को मैं रोक क्यों नहीं सका ? क्यों मैं ने जान-बूझ कर आत्म-रक्षा के लिए उस तरह मठ गया[2] ?" इस अनचाही परिस्थिति में पड़ कर उसका अन्तर्मन विक्षिप्त हो जाता है । प्रतिक्रिया स्वरूप वन की ओर प्रस्थान करता है और सिंह से लड़ता है । उन सब को चकनाचूर करने की इच्छा करता है, जिन्होंने उसके मन तीखा आघात पहुँचाया । नन्द आक्रोश करता है, "यह विश्वास मेरा नहीं है मैं तुम्हारा या किसी और का विश्वास ओढ कर नहीं जी सकता, नहीं जीना चाहता[3] ।"

---

1. आषाढ का एक दिन - पृ.107
2. लहरों के राजहंस - पृ.138
3. वही - पृ.134

पूर्ण पुरुष की प्राप्ति केलिए भटकती सावित्री ने यह समझ लेने में देरी की कि पूर्ण पुरुष सिर्फ कल्पना मात्र है। पुरुष अधूरा है। पुरुष ही नहीं मनुष्य सब अधूरे हैं। अपने अधूरेपन को समझे बिना दूसरों पर दोषारोप करते हुए सावित्री को बुरी चाल पर अधिक चलना पड़ता है। अंत में जगमोहन के साथ प्रस्थान करने का विचार भी जब निरर्थक सिद्ध हो जाता है तब वह अधूरेपन की तीव्र व्यथा से पीड़ित होकर बोल उठती है, "सब-के-सब ..... सब-के-सब एक-से! बिलकुल एक से हैं आप लोग! अलग अलग मुखौटे, पर चेहरा? - चेहरा सबका एक ही[1]।"

राकेश के अधिकांश पात्रों का प्रस्थान एक आवेश मात्र रह जाता है। नीलिमा के कारण निरर्थक बने अपने जीवन को फिर से सार्थक बनाने की कोशिश में हरबंस लन्दन की ओर प्रस्थान करता है। लेकिन तीन चार दिन के बाद ही वह नीलिमा को लंदन बुला लेता है। यही उसकी विवशता है, "मैं इन थोड़े से दिनों में ही अपने अकेलेपन से बुरी तरह ऊब आया हूँ। मुझे लगा है कि मैं दो चार साल तो क्या, इस तरह लन्दन में एक महीना भी नहीं काट सकूँगा। तुम आ जाओगी तो सारी व्यवस्था ठीक हो जायेगी और हम यह भूल जायेंगे कि हम कभी दिल्ली में भी रहते थे और हम लोगों की ज़िन्दगी में कभी किसी तरह का तनाव भी था[2]।" स्पष्ट है हरबंस की विसंगति से मुक्ति नामुमकिन है। "अँधेरे बन्द कमरे" का हर पात्र बचने की छटपटाहट के बाद उसी में गिर जाता है।

"न आने वाला कल" के मनोज का इस्तीफा प्रतिकूल परिस्थिति से उसका प्रस्थान है। वह सब बंधनों से बचना चाहता है, अतएव नौकरी छोड़ देता है। पूरे माहौल से वह संत्रस्त है। पत्नी से, अपने स्कूल के अन्य कर्मचारियों से, सब से वह आतंकित है। पर इस्तीफा उसकी इस विवशता का निवारण नहीं करती

---

1. आधे अधूरे - पृ.92
2. अँधेरे बन्द कमरे - पृ.143

इस्तीफा देने के बाद वह स्वयं प्रश्न करता है "आगे क्या ?" उसके सामने शून्यता और मन में अनिश्चितता । वन के बीच उजड़े हुए मनोज का प्रस्थान भी निरर्थक बन जाता है ।

वापसी की अभिशप्तता

सभ्यता के विभिन्न सोपानों पर मनुष्य संघर्ष करता आया है । उसकी इच्छाएं समय की कठोर सीढ़ियों पर मुड़क कर टूट गयी हैं । आधुनिक मनुष्य तरह तरह की सुविधाओं के बावजूद यही अनुभव करता है कि कहीं उसके अन्दर एक शून्य है, एक महामौन है । इसी वजह से वह कहीं भी स्थिर न रह सकने की विसंगति का शिकार बना हुआ है । टूटे हुए वातावरण की ओर वापस आने को वह विवश है ।

राकेश के साहित्य पर सरसरी नज़र डालने पर भी कुछ खास समस्याएं हमारा ध्यान आकृष्ट करती हैं । घर उनकी रचना की मूल समस्या है । एक असुरक्षा-बोध निरंतर उन्हें सताता है । वे उससे बचने की चेष्टा करते हैं पर उसमें विफल होते हैं । यही उनकी विसंगति है । एक विघटन और उससे बचने की लालसा । मुक्त होने की छटपटाहट । अंत में उसी विघटित परिस्थिति की ओर वापस आने की अभिशप्तता राकेश-साहित्य की मूल-चेतना है । यह चेतना विभिन्न सन्दर्भों में मानवीय नियति के त्रासद भावों के रूप में अभिव्यक्त हुई है । बाह्य रूप से पलायन वृत्ति और आत्म केन्द्रिता का आभास देते हुए भी वह मूल्य संक्रमणशील भी है । मूल्य संक्रमण का यह संघर्ष आधुनिक जीवन की त्रासदी है जो समकालीन होने के साथ ही साथ सार्वकालिक भी है । वापसी को इसी सन्दर्भ में परखना चाहिए । समझौता न कर पाने के कारण मूल्य च्युति के प्रतीक बन कर सारे पात्र अपने लिए बिखरे हुए घर में शरण पाते हैं जहाँ उब की पगध्वनियाँ अनुगुंजित हैं ।

वापसी में एक त्रासदी है जो आधुनिक मनुष्य के जीवन में व्याप्त है । अपने में अपनी त्रासदी को ढोते हुए चलने वाला वर्तमान मनुष्य कभी भी उससे बच नहीं पाता । अपने परिवेश से कट जाने मात्र से व्यक्ति मुक्त नहीं हो सकता । परिस्थिति बदल सकती है लेकिन मनुष्य का त्रासद अन्त एक ठहरनेवाला यथार्थ है । उस यथार्थ से भागने की हर कोशिश उसे दर असल और अधिक गहराई की ओर ले जाती है । राकेश के पात्र इस स्थिति पर पहुँचने केलिए अभिशप्त दिखाई पड़ते हैं ।

"आषाढ़ का एक दिन" का कालिदास विभिन्न प्रयोगों के शिकार बनने के बाद कहीं भी अपने को सुरक्षित नहीं पा सका । राजप्रासाद में सुखी नहीं रह सका । राजदुहिता से शादी की । राजकवि बना । अन्त में काश्मीर का शासक भी बना । पर ये सब स्थितियाँ उसे उत्तरोत्तर खण्डित करने में ही सहायक सिद्ध हुईं । उनसे टकराकर उसका सारा अस्तित्व नष्टप्राय हो जाता है । अंततः कालिदास सारे परिवेश को छोड़कर वापस आने केलिए विवश बन जाता है । "आश्रय और सत्ता के मोह में वह अपनी सर्जनात्मक क्षमता को ही बाधित नहीं करता, शासन का अस्त्र भी बनता है । वह मुक्ति और शक्ति के सन्दर्भों से इस प्रकार जुड़ जाता है कि उसके बीच उसका सारा अस्तित्व विस्थापित और त्रासद होने को बाध्य है ।"[1]

अपने सारे प्रयोगों में पराजित होकर कालिदास उस सहेली के पास वापस आता है जो उसके अंतरंग को पहचाननेवाली है, उसके अन्वेषण की लंबी राह पर हमेशा प्रकाश की किरणें बिखेरनेवाली है । वापस आकर कालिदास ने देखा कि उसकी सारी अभिलाषाएं अपूर्ण ही रह जायेंगी । मल्लिका के वर्तमान से जुड़ना कालिदास केलिए असंभव ही नहीं अनावश्यक भी है । वह कहता है,

---

1. आधुनिक नाटक का मसीहा मोहन राकेश - पृ.42

जो अभाव वर्षों से मुझे सालते रहे हैं, वे आज और बड़े प्रतीत होते हैं, मल्लिका ! मुझे वर्षों पहले यहाँ लौट आना चाहिए था ताकि यहाँ वर्षा में भीगता, भीगकर, लिखता - वह सब जो मैं अब तक नहीं लिख पाया और जो आषाढ़ के मेघों की तरह वर्षों से मेरे अन्दर घुमड़ रहा है[1] ।" जिस परिवेश से संत्रस्त होकर कालिदास चला गया उसी की ओर वापस आने के लिए वह अभिशप्त बन जाता है ।

कालिदास के समान "लहरों के राजहंस" का नन्द भी वापस आता है और कुछ समय के बाद फिर बाहर जाता है । यह वापसी क्यों ? नन्द के मन में अपार्थिव जिज्ञासा नहीं । पर परिस्थिति के दबाव के कारण उसे दीक्षित होना पड़ा । भिक्षु जीवन बिताना वह चाहता ही नहीं । बुद्ध के प्रति आदर और सुन्दरी के प्रति आकर्षण की दुविधा ही उसके जीवन की विसंगति है । सुन्दरी के प्रति आकर्षण उसे वापस लाता है, "मेरे हृदय में तुम्हारे लिए अब भी वही अनुराग है, आँखों में तुम्हारे रूप की अब भी वही छाया है[2] ।" पर वापस आया नन्द एक और विसंगति का शिकार बन जाता है । सुन्दरी लौटे हुए नंद को अपरिचित मानती है, और उसे दूसरा आदमी कहती है । यहीं उसकी वापसी निरर्थक निकलती है ।

"आधे अधूरे" का महेन्द्र भी वापसी का शिकार है । महेन्द्र जब अपने घर में अपने को पराया महसूस करता है तब वहाँ से अपने दोस्त जुनेजा के पास चला जाता है । पर मात्र एक प्रस्थान से महेन्द्र की समस्या हल नहीं होती । नाटक के अन्त में कालिदास और नन्द की भाँति महेन्द्र भी उसी स्थान की ओर वापस आता है जहाँ उसकी उपस्थिति अवांछित है । महेन्द्र की वापसी यहीं

---

1. आषाढ़ का एक दिन - पृ. 111
2. लहरों के राजहंस - पृ. 140

विडम्बना का रूप धारण करती है । वह नन्द, कालिदास के समान वहाँ से निकल नहीं जाता बल्कि उस माँद में कीड़े के समान चिपके रहने केलिए अभिशप्त हो जाता है ।

लंदन से वापस आयी नीलिमा [अँधेरे बन्द कमरे"] और एक बार प्रस्थान करती है । पर एक रात बीतने पर वापस आती है । नीलिमा अपने अंतिम नृत्य प्रदर्शन में भी बुरी तरह हार जाती है । उसका नर्तकीरूप हमेशा केलिए विकृत हो जाता है । वह इसका दोष हरबंस पर थोपती है और उससे झगड़ा करके चली जाती है । मधुसूदन से वह कहती है, "मैं तुमसे कह चुकी हूँ कि मैं उसका घर हमेशा केलिए छोड़ आई हूँ अब कभी मैं उस घर में लौटकर नहीं जाऊँगी[1] ।" पर अजीब बात यह है कि अगले ही दिन वह स्वयं वापस आती है । क्यों वापस आयी ? इस बात से वह स्वयं अनभिज्ञ है । एक अव्यक्त प्रेरणा उसे सह अस्तित्व केलिए प्रेरित करता है, "मैं आना नहीं चाहती थी, मगर फिर मैं ने सोचा कि ..... सोचा नहीं मुझे लगा कि .... शायद अब यही ठीक है[2] ।"

कालिदास, नन्द, महेन्द्रनाथ, सावित्री, नीलिमा, हरबंस इन सबके विभिन्न बाह्य जीवन की घटनाओं के परे इनके मानसिक जीवन का एक ऐसा स्तर है जहाँ वे सब कभी स्थिर हैं, कभी प्रस्थान करते हैं । कभी भटकते हैं प्रस्थान उनका अन्तिम प्रयोग है - अपनी जिन्दगी से । यह उन सब की विसंगति है ।

"अपरिचित" कहानी के दोनों पात्रों की विसंगति यह है कि वे अपनी अपनी अवास्तविक स्थितियों से समझौता कर लेते हैं । यात्रा के अंत में अपरिचित के समान स्त्री का उतर जाना और पुरुष का गहरी नींद में पड़ जाना उनके समझौतावादी दृष्टिकोण का परिचायक है । कहीं वे जुड़ नहीं पाते । यात्रा के

---

1. अँधेरे बन्द कमरे - पृ.506
2. वही - पृ.533

दौरान उनमें गहरी पहचान विकसित होती है। यह उनका हरिकत आग्रह है जहाँ वे अपने अस्तित्व को संपूर्ण पा रहे हैं। पर यह पूर्णता सांकल्पिक होने के कारण उनके अस्तित्व की अपूर्णता का द्योतक भी है। वे कहीं जुड़ते नहीं बल्कि उसी स्थान की ओर वापस जा रहे हैं जो उनकी कल्पनाओं का श्मशान बन चुका है

इस प्रकरण में इन्द्रनाथ मदान का यह कथन स्मर्तव्य है, "कभी कभी ऐसा लगता है कि राकेश के कथा नायकों की नियति भटकने में अभिशप्त है - वह चाहे "आधे अधूरे" का नायक हो या "आषाढ़ का एक दिन" का। हरबंस नीलिमा एक दूसरे से प्रेम करते हैं और पहले से अधिक अपरिचित हो जाते हैं। इस तरह दोनों अंधेरे बन्द कमरे में रहने के इतने आदी हो चुके हैं कि रिश्तों के बाहर एक नामहीन संबन्ध की बात सोच ही नहीं सकते।"[1] राकेश के सभी पात्र नामहीन संबन्ध की तलाश में नाममात्र के संबन्ध की विसंगति के भागीदार बन जाते हैं।

अस्थिरता राकेश के पात्रों की नियति है। वे हर कहीं अनिश्चित दिखाई पड़ते हैं। अनिश्चितता के बीचों बीच सब "ययौ न तस्थौ" की स्थिति में हैं।

अनिश्चितता के बीचोंबीच

"लहरों के राजहंस" में नन्द और सुन्दरी में व्याप्त अनिश्चितता नाटक के दो दीपाधारों वाले प्रतीक से स्पष्ट होती है। पुरुष मूर्ति की अवधारणा नन्द के संदर्भ में सार्थक होती है। उसका संबन्ध समस्त नरकों के साथ भी है। पुरुष इस ऐहिक जगत में अपने अस्तित्व के लिए लड़ते लड़ते विक्षत और संत्रस्त बन जाता है। अतः वह मुक्ति चाहता है। सच्चाई यह है कि पार्थिव या अपार्थिव जीवन से उसे स्थायी सुख या शांति नहीं मिलती। जो क्षणिक सुख मिलता है उससे पुरुष सन्तुष्ट है भी नहीं।

---

1. इन्द्रनाथ मदान - आधुनिकता और समकालीन उपन्यास - पृ.83

पुरुष मूर्ति इस तथ्य की ओर संकेत करती है कि पुरुष स्थायी सुख केलिए सदैव सदैव पराजित होता है । एक अनिश्चितता के बीचोंबीच खड़े मुक्ति की कामना कर रहा है । नन्द इस दुविधा में है कि वह किस मार्ग को अपनावे । कोई भी मार्ग उसे रास नहीं आता । सुन्दरी और बुद्ध दोनों पर अभाव है । बुद्ध-मार्ग स्वीकारने में वह असमर्थ है, "मैं तथागत के सामने कह चुका हूँ और अब फिर से कह देता हूँ कि वह दिशा मेरी नहीं है, कदापि नहीं है ।"[1]

अतः हम निःसन्देह कह सकते हैं कि पुरुष मूर्ति से निर्मित मुक्ति-कामना पार्थिव या अपार्थिव से ही नहीं अपितु इस विसंगत जगत के अभिशप्त जीवन से भी संबद्ध है । नंद एक ऐसी मुक्ति चाहता है जिसके स्पष्ट रूप से वह स्वयं अनभिज्ञ है "आज मानवता एक ऐसे कगार पर खड़ी है जिसके आगे राह नहीं, एक राह आध्या अवश्य है : पर उस पर बरसों से रूढ़ियों का मलबा पड़ा है । दो ध्रुवों के बीच खड़ा मानव आज पूछ रहा है : ततः किम् ? और उत्तर मिलता है : नान्य पंथा"[2] इस "अन्य पंथा" के अभाव से संत्रस्त नन्द अब अनिश्चितता का शिकार बन जाता है

सुन्दरी भी अनिश्चितता से मुक्त नहीं । नारी मूर्ति की बाहें सिमटी हुई तथा आँखें धरती की ओर झुकी हुई हैं । इसमें सुन्दरी की पराजित स्थिति को स्थापित किया गया है । दैहिक जीवन के प्रति सामायिक ममता की अंतिम परिणति को इस बिम्ब के द्वारा उभारा गया है । ऐन्द्रिकता से पूर्णतः सिमटी मनःस्थिति की अहंनिष्ठा अथवा एक सीमित वृत्त में सुख प्राप्त करने की असीम इच्छा-वृत्ति व्यक्ति के व्यक्तित्व को अत्यंत संकीर्ण बनाती है । संघर्ष के विभिन्न मोड़ों पर खड़े हुए मनुष्य के सामने यह वृत्ति रोड़ा अटकाती है । यशोधरा के प्रव्रज्या-ग्रहण के दिन ही आयोजित कामोत्सव का पराजित होना, "बुद्धं शरणं गच्छामि" मन्त्र सुनकर नन्द के हाथ से दर्पण का टूट जाना और बुद्ध के पास गए

---

1. लहरों के राजहंस - पृ.135
2. आधुनिक नाटक का मसीहा-मोहन राकेश - पृ.78

नन्द का मुण्डित सिर लौट आना ये सब सुन्दरी की संकल्पनाओं को तितर बितर कर डालते हैं, "यह दो भागों में बँटा हुआ सीमान्त, खण्डित मस्तक, खण्डित चेहरा खण्डित .....[1] ।"

"अँधेरे बन्द कमरे" के सभी पात्र अनिश्चितता के बीच मंडरानेवाले हैं, खासकर हरबंस और नीलिमा । उनके अलग हो जाने तथा फिर से जुड़ जाने में यह अनिश्चितता स्पष्ट हो जाती है । उनका हर निर्णय क्षणिक और अस्थिर रह जाता है । वे अनिश्चित और अस्तित्वहीन बन जाते हैं । बेबसी में वे कुछ कर डालते हैं फिर सोचते हैं, यह सब किस केलिए और क्यों ? पुन: जुड़ जाते हैं । इसी अनिश्चितता के कारण हरबंस लंदन चला जाता है । पर क्यों ?" इरादा कुछ भी नहीं है, सिर्फ जा रहा हूँ । .... मैं अकेला जा रहा हूँ और इसलिए जा रहा हूँ कि घर के लोगों से दूर रह सकूँ[2] ।"

ज़िन्दगी पर किसी की अधीनता स्वीकारे बिना स्वतंत्र रहना चाहती है शुक्ला । सुन्दरी के समान वह भी पुरुष के ऊपर अधिकार चाहती है । उससे भी बढ़कर अपनी स्वतंत्रता चाहती है । वह किसी नैतिक मूल्यों की परवाह नहीं करती । अपनी मानसिकता के अनुकूल कुछ भी करने केलिए तैयार हो जाती है । इस तरह अव्यवस्थित जीवन बिताने के बाद अब वह बेहद थक चुकी है । आगे की उसकी ज़िन्दगी अनिश्चित है । अब वह सोचती है कि उसकी सारी करतूतें एक अव्यक्त बेबसी की उपज थी, "तुम नहीं जानते मधुसूदन कि मैं अब तक कितना थक चुकी हूँ, मैं पहले इस बात का बहुत पक्षपात करती रही हूँ कि लड़की को बिल्कुल स्वतंत्र जीवन बिताना चाहिए । किसी भी व्यक्ति के साथ बँधकर उसके शासन में

---

1. लहरों के राजहंस - पृ. 105
2. अँधेरे बन्द कमरे - पृ. 99

रहना मुझे बहुत गलत लगता था । .... बहुत बाद मुझे लगने लगा कि मैं जिसे अपना शासन समझती हूँ, वह भी शासन नहीं, एक मांग है और वह मांग सदा मुझी को हीन करती है जिससे दूसरा अपने को जाने क्या समझने लगा[1] ।" जिन्दगी में वह जिस रास्ते से चलती दूर पहुँच गयी और में वह रास्ता गलत निकलता है । अब वह इतना निराशाग्रस्त है कि आगे की बातों का अनुमान भी उसे असंभव लगता है ।

सुषमा का मानसिक तनाव उस चरम सीमा पर पहुँचता है, जिसके आगे अंधकार ही अंधकार उसे नज़र आता है, "मैं बस इतना जानती हूँ कि मैं अपने वर्तमान से बाहर आना चाहती हूँ । इसीलिए मैं सोच रही थी कि दो तीन साल के लिए विदेश चली जाउं, तो शायद उससे मेरे अन्दर की समस्या कुछ हल हो जाए । मगर उसमें भी मुझे डर लगता था[2] ।" मानसिक सन्तुलन के अभाव में सुषमा हर बात पर व्यर्थ सोचती रहती है । अब वह कहीं सुरक्षित होना, स्वस्थ होना चाहती है । उसे महत्त्व की, नाम की या पुरुष पर शासन करने की इच्छा नहीं बल्कि वह किसी से शामिल होना चाहती है, "..... मैं अपने लिए सुख चाहती हूँ, सुख जो एक छोटे से घर में ही मिल सकता है, जहाँ मैं एक छोटा-सा बाग लगा सकूँ और एक एक पौधे को सींचकर बड़ा कर सकूँ, उसकी हर नयी पत्ती को देखकर खुश हो सकूँ और किसी से कह सकूँ कि देखो आज उस पौधे में एक नयी पत्ती निकली है । मैं कभी इस तरह की भावुकता का मज़ाक उड़ाया करती थी, मगर अब मुझे लगता है कि मैं अपने अन्दर वह सभी कुछ चाहती हूँ जिसका कि मैं मज़ाक उड़ाती थी[3] ।" इस आकांक्षा की पूर्ति वह मधुसूदन से जुड़ कर करना चाहती थी । पर उसकी आकांक्षा जल्दी ही अर्थहीन हो जाती है ।

---

1. अंधेरे बन्द कमरे - पृ.461
2. वही - पृ.463
3. वही - पृ.463

मुदन के साथ नई जिन्दगी की कल्पना मात्र कल्पना रह जाती है । वह हर पल में पराजय के गर्त की ओर गिर रही है । अन्त में उसका पतन पूर्ण हो जाता है ।

कहीं सुरक्षित और स्वस्थ होकर अपनी सारी अनिश्चितताओं से मुक्त होने केलिए "आधे अधूरे" की सावित्री जगमोहन, सिंघानिया, मनोज और शिवजीत के साथ जुड़ जाती है । पर हर व्यक्ति उसे अधूरा ही मिलता है । इस प्रकार अपनी तलाश के परिणाम के गलत निकलने पर सावित्री पूर्णतः अनिश्चितता का शिकार बन जाती है ।

सावित्री की सयानी लड़की भी अपने प्रयास में पराजित हो जाती है । उसके अन्दर एक ऐसी चीज़ भरी पड़ी है जो उसे कहीं टिकने नहीं देती । इसलिए उसका प्रस्थान भी अर्थहीन बन जाता है । वह वापस आ कर कहती है, "मैं इस घर से ही अपने अन्दर कुछ ऐसी चीज़ लेकर गई हूँ जो किसी भी स्थिति में मुझे स्वाभाविक नहीं रहने देती ।"[1] बड़ी लड़की कहीं भी स्वाभाविक न रह सकने की स्थिति में पहुँच जाती है । उस घर में लड़का अशोक भी इसी स्थिति का शिकार है उसे अपना घर घर नहीं लगता । उस घर से घर के सदस्यों के व्यवहार से वह ऊब जाता है । अपने को घर में बेघर महसूस करने की अनिश्चित स्थिति में अशोक पूछता है, "इसे घर कहती हो तुम ?"[2]

इस तरह "आधे अधूरे" के सभी पात्र एक अव्यक्त पीड़ा के कारण अस्थिर हैं और एक ही छत के नीचे दम घुटते रहने केलिए अभिशप्त हैं । अभिशाप से बचने का सारा प्रयत्न उन्हें और अधिक अस्थिर बना डालता है । यह अस्थिरता राकेश की सृजनात्मक प्रक्रिया की मूल चेतना है । [illegible] अनिश्चितता के बीचों बीच जीवन भर अभिशप्त दिखाई पड़ता है, कालिदास । राजकीय हर्षों में

1· आधे अधूरे - पृ·28

2· वही - पृ·43

उसने सुख की कल्पना की थी । पर यहाँ भी निराश हो जाता है, "मुझे बार बार अनुभव होता कि मैंने प्रभुता और सुविधा के मोह में पड़कर उस क्षेत्र में अनधिकार प्रवेश किया है, और जिस विशाल में मुझे रहना चाहिए था उससे दूर हट आया हूँ ।[1]

कालिदास का एकमात्र आश्रय मल्लिका थी । प्रताड़ित होकर उसके पास पहुँचने पर वह एक अपरिचित मल्लिका को देखता है । जीवन के विभिन्न मोड़ों पर से गुज़रते हुए कालिदास विसंगति का ही सामना करता रहता है ।

किसी न आने वाले कल की प्रतीक्षा में वर्तमान से भागने की कोशिश करने वाला मनोज सक्सेना अपने सारे भटकावों के बाद नौकरी से इस्तीफा देकर मन ही मन स्वस्थ होना चाहता है । अंत में वह बात भी व्यर्थ निकलती है । "यह ज़िन्दगी भी घुटन है, इस घर को छोड़ देने तक ही है । उसके बाद एक नई और अनजानी ज़िन्दगी की खोज अपने आप हर चीज़ में एक गति ले आएगी एक ऐसी गति जो इस तरह के अवरोध के लिए अवसर ही नहीं रहने देगी ।[2]" इस कल्पना के बावजूद वह स्वस्थ नहीं बन पाता । अपने अस्थिर मन की बेचैनी के कारण वह कामिनी के साथ संयोग करने लगता है । वह मन को शांत करने का प्रयत्न करते हुए कहता है, "मुझे यहाँ बन्द होकर बैठने की वजह से ही इतनी अस्थिरता महसूस हो रही है ...... एक बार सड़क पर पहुँच जाने के बाद ऐसा महसूस नहीं होगा ।[3]" सड़क पर पहुँचने के बाद भी उसकी हालत वैसी ही रह जाती है । सुधारने का कोई उपाय उसे सूझता नहीं । वह यह भी नहीं जानता कि उसे जाना कहाँ है ?

---

1. आषाढ़ का एक दिन - पृ. 107
2. न आने वाला कल - पृ. 188
3. वही - पृ. 136

मनोज ही नहीं मिशन वर्टन स्कूल के चपरासी की पत्नी कामनी से लेकर हेडमास्टर तक के सब लोग अपनी अपनी जगह अस्थिर और अनिश्चित हैं। वे सब उस परिवेश से बचने केलिए लालायित हैं। पर किसी साहसपूर्ण कदम रखने में वे असमर्थ हैं। मनोज के समान इस्तीफा की बात वे सोच भी नहीं सकते। क्योंकि उनमें ऐसी हिम्मत नहीं जिससे वे प्रतिकूल परिस्थिति का सामना करें। मिसेज दारूवाला कहती है, "मन में हम में से हर एक का करता है नौकरी छोड़ देने का, पर सचमुच नौकरी छोड़ देने से ....[1]।"

मिस बार्नी अपने आप संत्रस्त है। वह जीवन के विघटन से संघर्ष करने में असमर्थ है। वह उन लोगों के साथ मिलकर रहना चाहती है। उसकी तसल्ली की बात यह है कि इस अनिश्चितता का शिकार वह अकेली नहीं बल्कि स्कूल के सारे के सारे लोग हैं। "तसल्ली मिल रही है कि और सब लोग भी तुम्हारी जैसी ही स्थिति में है ? बल्कि उनसे बदत्तर स्थिति में, क्योंकि उनमें तुम्हारी तरह स्थिति को स्वीकार करके चलने का साहस नहीं है[2]।"

स्पष्ट है हर व्यक्ति अपनी ज़िन्दगी को खोखला और फालतू समझता है। फिर भी सब उस ज़िन्दगी को मजबूरन ढो रहे हैं, "हर व्यक्ति का यह खोखलापन यह महसूस कराता है कि वह फालतू जीवन जी रहा है और हर दूसरा व्यक्ति उसकेलिए नरक है[3]।"

"पैर तले की ज़मीन" के विच्छिन्न होने की स्थिति से सारे पात्र अस्थिर होकर इधर उधर घूमते दिखाई पड़ते हैं। मौत के साये में मंडराने वाले ये लोग कहीं भी स्वस्थ नहीं। किसी का वैयक्तिक जीवन खराब हो गया है। अयूब

---

1. न आने वाला कल - पृ.136
2. वही - पृ.151
3. अनुनाद - शोध पत्रिका - चन्द्रकान्त बान्दिवडेकर का लेख - पृ.53

अयूब का दाम्पत्य जीवन पराजित है । पत्नी के साथ मिलने में असमर्थ अयूब अपने आप छटपटा रहा है । सलमा से अयूब कहता है, 'नहीं ..... नहीं ... नहीं ..... क्योंकि तुम्हारी इमोशंस मर चुकी ..... तुम्हारा भोलापन कहीं खो गया है । उसके बाद भीतर सब कुछ सिर्फ दफ्न हो सकता है ...... और मैं सिर्फ दफ्न नहीं होना चाहता ...... मैं तुम्हारे भीतर भी जीना चाहता हूँ..'[1]

ज़िन्दगी को बोझ के समान ढोनेवाला झुनझुनवाला अन्त में अपने सारे व्यवहारों पर पश्चाताप करता है । मौत के सामने अस्थिर होकर वह प्रलाप करता है । उस ने जीवन के सम्बन्ध में जो कुछ समझ कर रखा था वह सब गलत साबित होता है । ज़िन्दगी में उसे कोई अभाव नहीं था । उसने लड़कियों के कुंवारेपन को लूट लिया, दोस्तों के घरों को बर्बाद कर डाला । सब कुछ पैसे के बल खरीद लिया । पर अब उसे मालूम हुआ कि उसके सारे व्यवहार व्यर्थ थे । वास्तव में वह स्वयं मर रहा था । पण्डित से कहता है, 'लेकिन, लेकिन ..... आज मैं जान सका हूँ कि मैं दूसरों की ही मौत नहीं, खुद अपनी मौत भी हूँ .... इस बाढ़ पर मेरा बस नहीं है ..... यह दरियाओं के मिल जाने से आई बाढ़ जिसने बीच की ज़मीन को, मेरे द्वीप, मेरे टापू को नेस्तनाबूद कर दिया है ..... पण्डित ।'[2]

पण्डित की ज़िन्दगी उसकी ही दृष्टि में विसंगति का पर्याय है । वह क्यों इस प्रकार की ज़िन्दगी ढोने केलिए तैयार हो गया ? ठीक उत्तर देने में वह असमर्थ है, 'मेरी आज तक की ज़िन्दगी एक नपुंसक आदमी की ज़िन्दगी नहीं रही ? रही है । किसलिए ? सिर्फ ज़िन्दा रह सकने केलिए नहीं, दूसरों की तरह ज़िन्दा रह सकने केलिए । इस दोगले दौर में मैं खुद अपना आप खो कर रह गया, जो कभी इससे, कभी उससे चिपक जाना चाहता था ।'[3]

---

1. पैर तले की ज़मीन - पृ.89
2. वही - पृ.109
3. वही - पृ.105-106

पंडित जीवन भर कुनकुनवाला की छाया में रहा । उसका घर कुनकुनवाला केलिए हर समय खुला था । वह अपने घर में स्वयं नपुंसक जीवन बिताता रहा । अब्दुल्ला और नियामत, सलमा और रीता सब के सब उस भयावह स्थिति में अपने बीते हुए क्षणों की याद कर विह्वल हो रहे हैं । बूढ़ों का पश्चाताप, बूढ़ों के निराशापूर्ण निश्वास, सब मिल कर उस वातावरण को विकृत बना देता है । विकृति में सभी पात्र अलग अलग इकाई बने हुए हैं । अपने आप पर तथा अपने अपने भविष्य पर शंकालु खड़े हैं ।

अयाचित अवस्था की त्रासदी

अपनी जड़ से कटकर ज़िन्दगी के विभिन्न मोड़ों पर से गुज़रनेवाला व्यक्ति सब कहीं असुरक्षित तथा अयाचित स्थिति ही पाता है । वह सोचता है कि इस विकृति को ढोने की क्या ज़रूरत है ? उन्हें यही इस जगत से मिलना है ? फलत: वह जगत से तथा सम्बन्धियों से कट जाता है । वह अपने को तथा जगत के साथ अपने संबन्ध को अयाचित महसूस करता है । राकेश के अधिकांश पात्र इस जगत् में अपने आप को अयाचित महसूस करते हैं । हर पात्र अपने परिवेश से असन्तुष्ट है । अपने स्थान से बचना चाहता है । बचने की कोशिश में निरंतर पराजित होता है, एक अयाचित स्थिति का शिकार होकर वरण करता है । राकेश के प्राय: सब पात्र अयाचित होने केलिए अभिशप्त हैं।

"आषाढ़ का एक दिन" के सभी पात्र विभिन्न कारणों से अपने आप को अयाचित मानते हैं । लेकिन सर्वाधिक अयाचित है विलोम । कालिदास के समान ही नाटक में आदि से अन्त तक वह उपस्थित है । विलोम कालिदास के चरित्र का एक दूसरा पक्ष है । वह कालिदास की कमज़ोरियों पर ज़्यादा दृष्टि डालता है । इसलिए मल्लिका की नज़र में वह हमेशा अयाचित है । वह बार बार अपनी असन्तुष्टि प्रकट करती है, "...... आप संभवत: यह अनुभव नहीं कर रहे कि आप यहाँ इस समय एक अनचाहे अतिथि के रूप में उपस्थित हैं ।"[1] सब लोगों की नज़र में अयाचित विलोम अपने में जीर्ण हो रहा है ।

---

1. आषाढ़ का एक दिन - पृ.45

कालिदास और अम्बिका दोनों विलोम से नफरत करते हैं । क्यों ? इसलिए कि जिस यथार्थ से दूसरे लोग भागना चाहते हैं विलोम उसे खुल्लम खुल्ला बोल देता है । अतः दूसरों की नज़र में वह बिलकुल अयाचित बन जाता है । उसकी यह त्रासदी तब गहरी हो जाती है जब वह मल्लिका के पति के रूप में उपस्थित होकर अपने अधिकार की घोषणा करता है । पति होने पर भी विलोम केलिए मल्लिका का द्वार हमेशा बन्द है । उस बन्द दरवाजे पर बार बार आ टकराकर वह निराश लौट जाता है । ऐसी अभिशप्त स्थिति में विलोम की अयाचितता की त्रासदी और भी गहरी हो जाती है, 'पहले आये, तो द्वार बन्द लौटकर गये और फिसल गये । फिर आये, तो फिर द्वार बन्द ।'[1]

कालिदास भी अन्त में आकर अयाचित स्थिति का सामना करता है । पहले वह ग्राम प्रांतर में कुछ लोगों के लिए अयाचित था । पर राजधानी में भी वह अपने को अयाचित परिस्थिति में पाता है । सबसे अधिक अयाचित वह तब बन जाता है जब सारे प्रयाणों में थककर वह मल्लिका के द्वार पहुँचता है । सारे परिवेश और मल्लिका का घर भी उसे अपरिचित लगता है, 'और न पहचानना ही स्वाभाविक है, क्योंकि मैं वह व्यक्ति नहीं हूँ जिसे तुम पहले पहचानती रही हो । दूसरा व्यक्ति हूँ । और सच कहूँ तो वह व्यक्ति जिसे मैं स्वयं नहीं पहचानता ।'[2] मल्लिका के सामने वह अपनी सारी गलतियों को स्वीकार करता पर वह जान लेता है कि मल्लिका का घर अब उसकेलिए खुला रहने पर भी बन्द सा है । कालिदास उस अयाचित स्थिति में ही चला जाता है ।

मातुल की स्थिति भी भिन्न नहीं । सुखी रहने की लालसा में मातुल राजप्रासाद चला जाता है । पर वहाँ वह अपने को तुच्छ महसूस करता है ।

---

[1] आषाढ का एक दिन - पृ. 113

[2] वही - पृ. 102

वह स्वयं कहता भी है कि वहाँ जाकर उसकी रीढ़ की हड्डी ही टूट गई है । वह लकड़ी टेक चल रहा है, "मुझ से कोई पूछे तो मैं कहूँगा कि राजप्रासाद में रहने से अधिक कष्टकर स्थिति संसार में हो ही नहीं सकती[1] ।" इस प्रकार मातुल भी अपनी भूमि से अलग होने के बाद अयाचित होने की नियति का शिकार बन कर वापस आता है ।

नन्द सुन्दरी केलिए जब "दूसरा आदमी बन जाता है" तब वह अपनी अयाचितता से संत्रस्त हो उठता है । सुन्दरी नाटक के अन्त में कहती है, "जो वापस आया वह नन्द नहीं कोई दूसरा आदमी है ।" नन्द की त्रासदी बुद्ध के सामने गहरी हो जाती है । बुद्ध जब आज नन्द के हाथ भिक्षा पात्र रख देता है, उसका सिर मुंडन कर देता है तब वह निष्क्रिय खड़े होकर सब को स्वीकार कर लेता है । बाद में वह स्वयं कहता है, "उस समय मैं इतना भावहीन क्यों हो गया कि भिक्षु आनन्द के कैंची उठाने पर चिल्ला नहीं सका कि यह निवास मेरा नहीं[2] ।" इन दोनों परिस्थितियों में नन्द अयाचित बन जाता है

कामोत्सव की पराजय, नन्द का मुंडित सिर के साथ वापस आना ये दोनों अवस्थाएं सुन्दरी में अयाचितता का बोध उत्पन्न कर देती हैं । जिस घटन के न होने की चाह उसके मन में थी उसी के प्रत्यक्ष दर्शी बन कर वह अपने को अयाचित तथा अपनी परिस्थिति को नियत समझ लेती है ।

सावित्री-महेन्द्र दोनों एक दूसरे से असन्तुष्ट होने पर भी उसी घर में बन्द रहने केलिए विवश हैं । मुक्ति की सारी आकांक्षाएं सावित्री को अपूर्णता की ओर धकेल देती हैं । जगमोहन के साथ नई ज़िन्दगी शुरू करने का सावित्री का प्रस्ताव जब विफल हो जाता है[3] । तब वह एक ऐसी स्थिति में पहुँच जाती है जहाँ से उसकी मुक्ति असंभव हो जाती है । वह उस अयाचित स्थिति की भागीदा

---

1. आषाढ का एक दिन - पृ.45
2. लहरों के राजहंस - पृ.139
3. आधे अधूरे - पृ.92

अपने केलिए पिचका होकर वापस आती है । जिस घर में महेन्द्र मात्र रबड़ का मोहरा, नालायक, अधूरा और घर-घुसरा है उसी की ओर वापस आकर वह पहले से अधिक अयाचित बन जाता है ।

आपसीसमझौते और प्रेम के अभाव में बिगड़े हुए जीवन से जुड़े रहने की स्थिति में हरबंस और नीलिमा एक दूसरे को अयाचित महसूस करता है । दोनों अपनी ज़िन्दगी को अयाचित स्थिति में पाकर बेहद अस्वस्थ तथा विचलित हो जाते हैं । एक दूसरे को चाहने की अपेक्षा लड़ने की स्थिति में वे एकदम अयाचित बन जाते हैं ।

पूर्ण स्वतंत्र होने तथा शोभा के साथ संपर्क निभाने की मनोज की कल्पना टूट जाती है । वह स्कूल की नौकरी से इस्तीफा देता है, अपनी अनिश्चितता को मिटाने केलिए । पर इन सारे प्रयत्नों के बाद भी वह कहीं भी पहुँचता नहीं । उसके कल की प्रतीक्षा बेकार सिद्ध होती है । जब अपने आने वाले कल की प्रतीक्षा को निरर्थक पाता है तब मनोज अपने को तथा अपनी पूरी ज़िन्दगी को अयाचित अवस्था में पाता है ।

राकेश के पात्र वहीं पहुँच जाते हैं जहाँ पहुँचने से वे डरते हैं । कुछ पात्र दूसरों से अयाचित घोषित किये जाते हैं, कुछ स्वयं अयाचित होने का अनुभव करते हैं और कुछ स्वयं अयाचित होने का अनुभव करते हैं और कुछ अयाचित ऐसे परिस्थिति में घिर जाते हैं । इस प्रकार विसंगति से संघर्ष करते हुए उसी के गर्त में ये पात्र गिर जाते हैं । जैसे ज्ञान अस्थाना ने स्पष्ट किया है, "मोहन राकेश के तीनों उपन्यासों - अँधेरे बन्द कमरे, न आने वाला कल और अन्तराल में आधुनिक जीवन की विसंगतियों में संगति न ढूँढ पाने की विवशता है[1] ।"

---

1. डॉ॰ ज्ञान अस्थाना - सचेतना - अंक - 1, जनवरी-मार्च 1975 - पृ.44

सच्चाई यह है कि उपन्यास के पात्र ही नहीं, बल्कि राकेश के सभी पात्र कहीं टूटे हुए सम्बन्धों को ढोते हुए दिखाई देते हैं तो कहीं मुक्ति-संघर्ष में पराजित । कहीं वे एक अस्थिर स्थिति के भँवर में अपने को संभाल न सकने की स्थिति में ज़िन्दगी के शाश्वत सत्य विसंगति को अनजाने भोगते रहते हैं । राकेश ने स्पष्ट किया है, "मेरी रचनाएं सम्बन्धों की यंत्रणा को अपने अकेलेपन में झेलते लोगों की कहानियां हैं । .... उसकी परिणति किसी तरह के निहिलिज्म में नहीं, झेलने की निष्ठा में है[1] ।"

राकेश के सभी पात्र जीवन की विसंगति के शिकार हैं । विसंगति की तीक्ष्णता से बचने के लिए छटपटाते हुए वे क्लांत, आहत और आश्रयहीन हो कर उसी में समा जाते हैं । यही उन की त्रासदी है ।

निष्कर्ष

1. विसंगति-बोध जीवन का एक अनिवार्य नियम है जिससे प्रत्येक कलाकार को जूझना पड़ता है ।
2. मानवीय मूल्यों के विघटन ने ही आधुनिक जीवन में विसंगति-बोध को गहराया ।
3. कामू ने अपने "मिथ ऑफ सिसिफस" में स्थापित किया है कि व्यक्ति के कठोर प्रयत्न के बावजूद उसकी इच्छाओं के विरुद्ध परिणति जीवन का एक अनिवार्य सत्य है ।
4. मृत्यु ही व्यक्ति के जीवन का सबसे बड़ा सत्य है । इसका एहसास मनुष्य में निरर्थकता का बोध पैदा करता है ।

---

[1] मोहन राकेश - मेरी प्रिय कहानियां - भूमिका - पृ.11

5• महायुद्धोपरान्त पश्चिमी साहित्य में जीवन की व्यर्थता के एहसास का सार्वि
अनुभव हुआ है ।

6• आयनेस्को की स्थापना है कि उद्देश्य साहित्य ही विसंगति है ।

7• अस्तित्ववादी दर्शन मानव जीवन की महत्ता के सामने प्रश्न चिह्न लगा देता
है । इस कारण साहित्य संबन्धी धारणा की परम्पराएं बदल गयीं ।

8• स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य में व्यर्थता-बोध छाया हुआ है ।

9• हिन्दी साहित्य में व्यर्थता-बोध का प्रवेश भारतीय वातावरण के अनुरूप ही
हुआ है ।

10• आधुनिक हिन्दी साहित्यकारों में अस्तित्व की व्यर्थता का सब से बड़ा
प्रखर बोध मोहन राकेश में ही प्राप्त होता है ।

11• आषाढ़ का एक दिन का कालिदास सृजनशील प्रतिभा की अस्मिता का
प्रतीक है ।

12• मल्लिका कालिदास की कवि प्रतिभा में अपने अस्तित्व का अर्थ ढूंढनेवाली
नारी है । वह भी अन्तत: जीवन के व्यर्थता-बोध का ही शिकार बनती है

13• लहरों के राजहंस का नन्द इसी प्रकार अनिश्चितता के बीच अस्तित्व के अर्थ
को ढूंढनेवाला पात्र है ।

14• सुन्दरी भी अपने अस्तित्व को बनाए रखने का प्रयत्न विफल होने पर जीवन
विसंगति का सामना करती है ।

15• "आधे अधूरे" की सावित्री भी विसंगति-बोध से ग्रस्त है लेकिन उसके विसंगति
बोध का स्वरूप भिन्न है ।

16• "अंधेरे बन्द कमरे" का हरबंस अपने घर में अयाचित है पत्नी नीलिमा अनेक
परीक्षणों के बावजूद पराजित रहती है । दोनों आत्मनिर्वासित रहते हैं ।

17· राकेश की कहानियों में भी आधुनिक जीवन का यह स्वरूप स्पष्ट चित्रित है

18· "न आने वाला कल" उपन्यास के पात्र भी जीवन के अभिशाप का सामना करते हुए आत्मनिर्वासित रह जाते हैं ।

19· राकेश के सभी पात्र अपनी ज़िन्दगी में कहीं पराजित होकर, कहीं टूटकर अनस्तित्व की पीडा के निरंतर भोगी बनते दिखाई पडते हैं ।

* * *

तीसरा अध्याय

अस्मिता की खोज

तीसरा अध्याय

अस्मिता की खोज

अस्मिता

अस्तित्व ही अस्मिता है । अस्मिता व्यक्ति के अर्थ से स्थापित होती है । व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को सीमित-व्यापक परिवेशों में सार्थक कर लेना चाहता है । सीमित परिवेश में वह कुछ संकल्पनाओं का पूर्तीकरण चाहता है । उसके मन में बड़ी बड़ी आकांक्षाएं होती हैं, जिनकी संपूर्ति में उसे शंका नहीं । इस लक्ष्य-बिन्दु पर पहुंचने केलिए वह निरंतर कर्मरत रहता है । पर अपनी आकांक्षाओं को जड़ से उखाड़ देने वाली पराजय उसे बुरी तरह निराशाग्रस्त बना देती है । हर व्यक्ति अपनी अस्मिता को पहचानता नहीं । उसकी पहचानना व्यक्ति की सचेतनता का परिचायक है । रचनाकारों की अभिव्यक्ति इस ओर एक प्रयास है । "अभिव्यक्ति अस्मिता की पहचान में आ सकने वाला प्रकटीकरण

सामाजिक तथा वैयक्तिक जीवन की स्वतंत्रता व्यक्ति की अपनी अस्मिता की पहचान से संश्लिष्ट है । व्यक्ति का अस्तित्व, व्यक्ति के रूप में उसकी सामाजि स्वीकृति पर निर्भर है । हर सचेत व्यक्ति, जो जीवन की वास्तविकता की ओ

---

1. अज्ञेय - भवन्ती - पृ.73

सूक्ष्म दृष्टि डालता है, उसकी विपरीत स्थितियों और घटनाओं से परिचित रहता है। भय, पीड़ा और मृत्यु मनुष्य के अस्तित्व पर आ पड़नेवाली विपरीत स्थितियाँ हैं। उसके आभास मात्र से व्यक्ति बेहद विह्वल और भयभीत हो जाता है। कार्ल जास्पर्स ने अस्मिता पर विचार करते हुए स्पष्ट किया है, "अस्मिता के अस्तित्व का अनुभव हम मृत्यु, पीड़ा और पाप इन तीनों में एक के द्वारा करते हैं। कभी कभी तीनों मिश्रित अनुभूति के रूप में भी प्राप्त हो सकते हैं।[1]" स्पष्ट है व्यक्ति अपने अपनत्व पर तब सजग हो जाता है जब वह प्रतिकूल तथा अपनी मेधा के लिए अनबूझ घटनाओं का सामना करता है। याने विपरीत परिस्थिति का शिकार बन जाता है।

व्यक्ति अस्मिता का व्यावहारिक रूप है। "व्यक्ति (अस्मिता का व्यावहारिक स्वरूप) एक अनोखी (यूनीक) सत्ता है जिसकी तुलना नहीं, परिभाषा नहीं। वह सदैव "हो रहा है" (बिकमिंग) की अवस्था में है।[2]" इस स्थिति व्यक्ति की या अस्मिता की परिभाषा असंभव है। क्योंकि वह "हो रहा है" की स्थिति में है।

सचेत व्यक्ति ही अस्मिता या अस्तित्व पर ध्यान रखता है। कवि सर्वाधिक सचेत व्यक्ति है। अस्मिता का खण्डित होना उसके समूचे अस्तित्व का विघटित होना है। विघटन का बोध जीवन की अवांछित घटनाओं के सम्मुख से होता है। ऐसी परिस्थितियों का शिकार बनने वाला व्यक्ति या स्वभाव अन्तर्मुखी बन जाता है। उसके मन में अपने अस्तित्व की नकारात्मक स्थिति बोध उत्पन्न होता है। यह बोध उसे एक "क्राइसिस" की स्थिति में पहुँचा है जिसे "आइडेन्टिटी क्राइसिस" या अस्मिता का विघटन कह सकते हैं।

---

1. कुबेरनाथ राय – विषाद योग – पृ. 135 (उद्धृत)
2. वही – पृ. 135

स्व की खोज

अस्मिता का विघटन व्यक्ति के जीवन में विसंगति का तीखा रूप धारण करता है। इससे एक सीमा तक व्यक्ति में निष्क्रियता भी उत्पन्न होती है। पर निष्क्रियता के वशीभूत होकर वह विसंगति का गुलाम बनना नहीं चाहता। इसलिए वह मुक्ति का रास्ता खोजता है। अपनी विनष्ट अस्मिता या "स्व" की तलाश में वह विसंगति से संघर्ष करता है। वह मृत्युपर्यन्त जीना चाहता है, पर अस्तित्वहीन बन कर नहीं, बल्कि अपने अस्तित्व को बनाए रखते हुए। इसलिए उसके लिए अपनी अस्मिता समस्या बन जाती है। परम्परा और इतिहास से हट कर उसका अस्तित्व रह नहीं पाता। वह इस निरंतर प्रवाहमान ज़िन्दगी में अपनी सार्थकता खोजता है। यही उसकी अस्मिता की खोज है, "परंपरा और भविष्य, स्वीकृति और विद्रोह इन्हीं की उलझनों में खोया मानव सतत रूप से अपने को जानने पहचानने तथा पाने का प्रयास कर रहा है और मानव के पारस्परिक सम्बन्धों के सन्दर्भ में उसकी यही खोज अस्मिता की खोज बन जाती है[1]।"

विद्रोह

हम देख चुके हैं कि व्यक्ति की अस्मिता की खोज उसके प्रतिकूल परिस्थिति के शिकार बनने का परिणाम है। अनस्तित्व का बोध उसे अहं केंद्रित तथा समाज से कटा हुआ बना देता है। जीवन की विसंगति पर विचार करने के बाद कामू कहते हैं कि अन्यों के अवलंब पर जीने की अपेक्षा अपने चरणों पर खड़े होकर मरना ही बेहतर है[2]। "द रिबेल" नामक पुस्तक में कामू जीवन की विसंगति से संघर्ष करके अपने अस्तित्व को बनाए रखने की बात क है। उनके मत में इसकेलिए एक मात्र उपाय विद्रोह है "मैं विद्रोह करता हूं इसलिए हम अस्तित्व रखते हैं[3]।" विसंगति से संघर्ष करके ही ह अपना अस्तित्व निर्मित कर सकते हैं।

---

[1] लहर - अप्रेल 1970 योगेन्द्र शास्त्री का लेख - पृ·6

[2] Better to die one's feet than to live one's knees.
Albert Camus - The Rebel, p.15

[3] I rebel Therefore we exist.
Ibid - p.22

कामू के मत में अस्तित्व का प्रमाण है विद्रोह । उनके इस विद्रोह-संबन्धी विचार को और स्पष्ट करते हुए सर हेरबर्ट रीड ने "दि रिबेल" की भूमिका में कहा - "यह विद्रोह जिन्दगी से तथा सृष्टि के विरुद्ध है । विसंगत जगत में संगति ढूंढने का प्रयास है, न कि किसी पूंजीवादी सत्ता के विरुद्ध विद्रोह[1] ।"

विद्रोही वही है जो अपनी अस्मिता का आग्रही है । विद्रोह विसंगति-बोध से उत्पन्न होता है । जीवन की अयुक्तिक स्थिति से तथा अव्याख्येय विपरीत जीवन परिस्थितियों से विद्रोह की भावना उग आती है[2] । कहने का मतलब यह हुआ कि जीवन की अयुक्तिक घटनाओं से संत्रस्त व्यक्ति अपने को अस्तित्वहीन पाता है । कुछ लोग इसे निष्क्रिय रहकर भोगते हैं । पर सचेत बौद्धिक वर्ग इससे मुक्त होना चाहता है । अपने अस्तित्व की तलाश में वह निरत रह जाता है । कामू का विद्रोह इस विघटित आइडेन्टिटी को तलाशने की प्रक्रिया में है ।

अस्मिता का विघटन: पाश्चात्य सन्दर्भ

दो महायुद्धों ने पाश्चात्य सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन को तहस-नहस कर डाला । लाखों को मृत्यु के मुंह में डाल दिया । आधुनिक विज्ञान की बढ़ती प्रभुता ने उसके वर्तमान और भविष्य को अनिश्चित बना दिया । यहीं से मनुष्य अपने अस्तित्व पर विचार करने लगता है । अस्तित्ववादी दर्शन इस चिंतन का परिणाम है । पर यह चिंतन विश्वयुद्ध के परिणाम स्वरूप उद्भूत नहीं । उसके पहले ही इसका अस्तित्व था । विश्वयुद्ध के बाद ही यह एक दर्शन का रूपधारण करता है । तभी इसको सार्वजनिक मान्यता मिली ।

---

1. It is not longer the revolt of t he slave against the master, nor even the revolt of the poor against rich; it is a metaphysi revolt; the revolt of man against the conditions of life, agains creation itself.
   Albert Camus - The Rebel - Sir Herbert Reade's preface, p.viii

2. Rebellion is born of the spectacle of irrationality, confronted with an unjust and incomprehensive condition.

   Albert Camus - The Rebel, p.10

G 3434 -

आज का मनुष्य अपने अस्तित्व के लिए व्याकुल है । [illegible] आस्थाएं मिट गई हैं । विनाश का जो ताण्डव उसके सामने हुआ, उसमें मृत्यु का विकराल रूप भी उसने देख लिया । आज का मनुष्य अपने आप शंकाग्रस्त है । जी॰एस॰ फ्रेसर ने लिखा है, "हम केवल एक विघटनकारी परिस्थिति में जी ही नहीं रहे हैं मानव अस्तित्व ही निसर्गतः एक चिरन्तन विघटन है[1] ।" मनुष्य-जीवन की इस संक्रमण-स्थिति के बोध ने पाश्चात्य जन मानस को ही नहीं बल्कि समस्त जन मानस को उलझा दिया है ।

युद्ध की भीषण परिणति तथा यान्त्रिक सभ्यता ने वर्तमान मनुष्य के सामने एक अंधकार पूर्ण भविष्य का द्वार खोला है । आज का मानव यंत्र का गुलाम है । उसके सारे काम करने में यंत्र सक्षम है । फलतः धीरे धीरे मनुष्य यंत्र का पुर्जा बन गया है । ऐसी परिस्थिति में व्यक्ति अपने स्व को आहत पाता है । वह मानसिक और शारीरिक स्तर पर अपने को टूटा-हारा महसूस करता है । वैयक्तिक संबन्धों में ही नहीं अपने अस्तित्व पर भी वह सन्देहग्रस्त बन जाता है[2] ।

प्रतिदिन बढ़ने वाले वैज्ञानिक आविष्कारों ने चुनाव करने की मनुष्य की समर्थता मिटा दी है । अब उसके सामने हर उत्पादन के अनेक रूप वर्तमान हैं । इनमें से अपने लिए अनुयोज्य को चुनने में वह असमर्थ निकलता है । यह स्थिति उसके अनस्तित्व को गहराती है । परिणाम स्वरूप व्यक्ति के व्यक्तित्व का विघटन हुआ है । व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को विच्छिन्न पाता है । इस स्थिति में

---

1. We are not merely living through a period of crisis, but human existence itself is, in its very nature a permanent crisi

   G.S. Fraser - The Modern Writer and His World, p.20

2. The technology cripples the human psyche and subordinates man, effacing his faith in the individual and unique qualities of identity.

   Valentina Ivasheva - The Threshold of the Twenty First Century, p.155

व्यक्ति की आइडेन्टिटी क्राइसिस दुगुनी होती है । "औद्योगिकीकरण ने मनुष्य को अकेला ही नहीं बना दिया, उसके व्यक्तित्व को भी टुकड़ा कर दिया ।"[1]

वर्तमान जीवन की विसंगतियों से पूर्णतया अवगत होने के कारण ही फ्रांस के मनीषी कामू जीवन को विसंगति का पर्याय मानते हैं । यह दुनिया विसंगत है और उसके अन्दर का जीवन भी ।[2] इस विसंगत जगत में व्यक्ति आश्रयहीन तथा बेसहारा है । पहले तो ईश्वर का आश्रय था पर अब वह आश्रय भी मिट गया । "मनुष्य इस अजनबी जगत में अकेला है । उसे कोई आशा नहीं, विश्वास नहीं । उसका एक मात्र लक्ष्य ईश्वर पर पहुँचना है । लेकिन ईश्वर मर गया । वहाँ प्रवेश करने का कोई मार्ग भी नहीं ।[3]"

युद्धोत्तर पाश्चात्य साहित्य

पाश्चात्य साहित्य में इस परिस्थिति से अभिभूत पात्रों का आगमन मुख्य रूप से महायुद्धोत्तर काल में हुआ । सार्त्र, कामू, काफ्का जैसे फ्रांसीसी दार्शनिक साहित्यकारों के तथा अन्य यूरोपीय साहित्यकारों की कृतियों में ऐसे खण्डित व्यक्तित्व वाले पात्रों का चित्रण होने लगा जो अपने स्व की खोज में संलग्न हैं । कामू के "आउटसाइडर"[4] का नायक मेरसाल्ट जीवन के प्रति निस्संग रह जाता है । उसे न किसी मूल्य पर विश्वास है न किसी संबन्ध पर । विसंगति के बीच में पड़ कर उसका अस्तित्व ही खण्डित हो जाता है । अतः वह अनस्तित्व की पीड़ा भोगता रहता है ।

---

1. Industrialisation has notstopped merely at isolating man. By encouraging specialisation, it has gone fur-ther to fragment his personal-ity.
   Modernity and contemporary Indi an Literature, p.89
2. द्रष्टव्य इस प्रबन्ध का विसंगति-बोध नामक अध्याय
3. Man leftalone in t-he alien world, has no hope, no destiny, no faith, no failure. The ultimate escape from his fate is his t scendence to God. But God is dead. There is no exist.
   Modern Hindi short story - Devendra Issar's Essay, p.244
4. Albert Camus - The outsider.

'द प्लेग'[1] में विशूचिकाग्रस्त नगर ओरान और वहाँ के छिन्न संबन्धवाले लोगों की कथा है। अधिकारी उस नगर को रोग ग्रस्त प्रदेश घोषित करके अन्य प्रदेशों से उसे अलग कर देते हैं। बहुत से लोग मर जाते हैं। बाह्य विश्व से सम्बन्ध टूटने तथा खतरनाक रोग से पीड़ित होनेके कारण बेचारे व्यक्ति जीवन की निराश्यता और व्यर्थताबोध से पीड़ित होते हैं। प्लेग से विमुक्त होने पर भी वे उस व्यर्थता बोध से मुक्त नहीं हो पाते। आगे प्लेग का पुनः आना भी असंभव नहीं है। अतः लोग एक आशाहीन भीषण स्थिति में जी रहे हैं जहाँ वे अपने को टूटा-हारा महसूस करते हैं। एक मुक्तिहीन जीवन-संघर्ष को ढोते रहने के अभिशाप के शिकार है प्लेग के सारे पात्र।

'पतन'[2] का जीन बापिस्ते क्लामेन्स सम्पन्न और सुखी है। एक दिन रात को घर लौटते समय उसने एक हँसी सुनी। वह नहीं जानता कि वह हँसी कहाँ से है। वह सोचता हैकि संसार उस पर हँस रहा है। उसका विश्वास टूट जाता है। वहीं से उसका पतन शुरू होता है। वह निष्क्रिय और अनिश्चित चित्तवृत्ति वाला हो जाता है। उसके सामने ही पानी में गिर पड़ी लड़की को बचाने का कोई प्रयत्न वह नहीं करता। वह आत्मसम्मान-हीन हो जाता है। सारी दुनिया को वह शत्रु मान लेता है। ऐसी दुनिया में अपने अस्तित्व के संकट को भोगनेवाला जीन बापिस्ते विसंगत जीवन ढोने वाला एक और पात्र है।

दुर्ग की ओर से निरंतर पीड़ित नायक है काफ्का के 'दुर्ग'[3] [दि कासिल] का नायक जोसफ के। उस दुर्ग की ओर से जो आदेश होता है उसी के निर्वहण केलिए वह अपने को अभिशप्त पाता है। 'जोसफ के' का अस्तित्व उस दुर्ग के सामने संकटापन्न स्थिति में है।

---

1. Albert Camus - ThePlauge

2. Albert Camus - The Fall, 1956

3. Kafka - The Castle

सार्त्र के "नौसिया"[1] में विपरीत परिस्थिति के बीच व्यक्तित्वहीन रहते हुए अपनी ज़िन्दगी के प्रति असंतुष्टि प्रकट करने वाले पात्र है ।

कविता, उपन्यास या कहानी के क्षेत्र में ही नहीं नाटकों के क्षेत्र में भी इस बदली हुई सामाजिक तथा वैयक्तिक समस्या का चित्रण हुआ है । सामुएल बेकेट का "वैटिंग फार दि गोदोत"[2] इसका अच्छा उदाहरण है । गोदोत्त का नायक व्लाडिमिर गोदो की प्रतीक्षा में है । अनिश्चित प्रतीक्षा में निरत व्लाडिमिर कहता है कि अगर कल गोदो नहीं आये तो हम आत्महत्या करेंगे । अंतहीन प्रतीक्षा की निरर्थकता में उसकी अस्मिता छिन्नभिन्न हो जाती है[3] ।

ओनील का "लोंग डेज़ जेर्नी इन टु नाइट"[4], जेने का "दि बालकणी"[5], अयनेस्को का "दि रिनोसियेर्स"[6], दि लेसन"[7] जैसे नाटकों में ऐसे विघटित व्यक्तित्ववाले चरित्रों का स्थापन हुआ है । यह प्रवृत्ति युद्धोपरान्त यूरोप के समस्त देशों के साहित्य की रही । पर यह यूरोप तक नहीं सीमित रही । सभी देशों के साहित्य में इस प्रवृत्ति का चित्रण मिलता है ।

आनुषंगिक ढंग से यह कथन अनुचित नहीं होगा कि भारत में इस प्रवृत्ति की अपनी पारिवेशिक भूमिका है । इसे ख्वाहमख्वाह आरोपित वैदेशिक समस्या कहनेवाले लोग भारत के आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक परिवर्तन को नज़र अन्दाज़ करनेवाले ही हैं । कहने का मतलब यह है कि भारतीय परिवेश में मनुष्य के

---

1. Jean Paul Sartre - Nausea, 1980 (New Edition)
2. Samuel Beckett - Waiting for Godot.
3. The structure of feeling of waiting for Godot is the loss of faith, and an essentially uncertain waiting; it is not, from centre, a demonstration; but is peripheral fragmentary blurr
Raymond Williams - Drama from Ibsen to Brecht, pp.301,302
4. Eugene O'Neil - Long Sunday's Journey in to Night, 1956
5. Jean Genet - The Balcony, 1956
6. Eugene Ionesco- The Rhinocerous, 1960
7. Eugene Ionesco- The Lesson, 1951

अस्तित्वविघटन का अपना कारण था । यह बाहर से लायी गयी प्रवृत्ति नहीं । "यह कि नहीं कि अस्मिता का संकट पश्चिम में ही हुआ है और हम ने खामखाह ओढ़ लिया है । संकट हमारा भी है, लेकिन पश्चिम की अस्मिता अलग थी और उसके संकट के कारण भी दूसरे, हमारी अस्मिता और संकट के कारण अलग हैं[1] ।"

स्वाधीनता प्राप्ति के बाद भारतीय समाज में व्याप्त अव्यवस्था, भय और घुटन और निराशाजनक परिस्थितियों के कारण इस प्रवृत्ति को तीव्रता मिली । मोहभंग ने व्यक्ति को अधिक उलझन में डाल दिया । स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद का युग भारतीय जीवन में मोहभंग का है । स्वतंत्रता संग्राम के अवसर पर जिस स्वप्न को लेकर लोगों ने अपने प्राणों की बलि चढ़ाई थी वह एकदम अर्थहीन हो गया । व्यक्तियों के बीच का रिश्ता नाम मात्र का रह गया । दूसरी ओर अधूरी स्वतंत्रता ने जन मानस को रुग्ण बना दिया तथा व्यक्ति-व्यक्ति के बीच के सम्बंध को निरर्थक भी ।

भारतीय परिवेश और
हिन्दी साहित्य

महानगर में व्यक्ति अपने को तुच्छ और कटा हुआ अनुभव करता है । वह अपने को एक खाई में पड़ा हुआ पाता है जहाँ से उसकी मुक्ति असंभव है । उस परिस्थिति में वह अपने को अस्तित्वहीन ही पाता है । इस बोध का व्यापक प्रभाव स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य में लक्षित होता है ।

---

1. अज्ञेय - आलवाल - पृ.49

हिन्दी साहित्य में ऐसे खण्डित व्यक्तित्व वाले पात्र पहले पहल अज्ञेय के साहित्य में दिखाई पड़ते हैं। बुद्धिवादी व्यक्ति ही उपर्युक्त परिस्थिति से सर्वाधिक ग्रस्त होता है। अज्ञेय व्यक्तिवादी है और बुद्धिवादी भी। इसलिए यह बिलकुल स्वाभाविक है कि उनकी रचनाओं में ही इस बौद्धिक संकट के लक्षण प्रथम बार स्फुरित होते हैं। आधुनिक लेखक अपने परिवेश के प्रति सजग है। हर परिवर्तन से वह आन्दोलित हो उठता है। "संकटापन्न अस्मिता का बोध हर आधुनिक लेखक को है[1]।"

अज्ञेय का प्रथम उपन्यास "शेखर एक जीवनी" [दो भाग] वैयक्तिक सन्दर्भ को लेकर लिखा गया एक है और उसमें व्यक्ति की अस्मिता का प्रश्न उठाया गया है। जीवन की प्रतिकूल या विपरीत स्थितियों के विरुद्ध सतत संघर्ष करने वाला शेखर वास्तव में अपनी अस्मिता को बनाए रखने के संघर्ष में निरत है। पर विडम्बना की बात यह है कि शेखर अपनी ज़िन्दगी को मनोनुकूल ढालने में विफल होता है। अपना अलग अस्तित्व बनाने के प्रयत्न में भी वह पराजित होता है। शेखर अपनी विवशता यों प्रकट करता है, "....... मैं ने देखा, सर्वत्र कलुष है, ह्रास है, पतन है - कि एक अकेला समाज ही नहीं, जीवन आमूल दूषित है - ईश्वर, मानव, सब कुछ .... आमूल दूषित ~~xx~~ है - दूषित और सड़ा हुआ, विद्रोह करने के लिए कुछ भी नहीं है[2]। शेखर ज़िन्दगी भर संघर्षरत रहता है, अपनी अस्मिता को बनाए रखने तथा सार्थकता पाने के लिए। पर पहुँचा कहाँ? कहीं भी पहुँचता नहीं। विघटित अस्मिता के आघात को सहते हुए वह बेगाना रह जाता है।

---

1. अज्ञेय - भवन्ती - पृ.24
2. अज्ञेय - शेखर एक जीवनी - भाग - 2, पृ.242

"अज्ञेय का दूसरा उपन्यास "नदी के द्वीप" [1951] इसकी विस्तृत भूमिका अदा करता है । रेखा-भुवन जैसे बौद्धिक वर्ग के प्रेम को माध्यम बनाकर अज्ञेय यही साबित करता है कि व्यक्ति अकेला है । उसके मन में जो शून्यता है वही उसे प्रेम केलिए, पारस्परिक सम्बन्ध केलिए प्रेरित करती है । रेखा का कथन मनुष्य के इस अकेलेपन की स्थिति को और स्पष्ट करता है, "जीवन के सारे महत्वपूर्ण निर्णय व्यक्ति अकेले में करता है, सारे दर्द अकेले में भोगता है - और तो और प्यार के चरम आत्मसमर्पण का सबसे बड़ा दर्द भी ....[1] ।"

भुवन भी मनुष्य की अपूर्णता के दर्शन को दुहराता है । पूर्णता की तलाश में भटकते भटकते मनुष्य को अपूर्णता का वरण भी करना पड़ता है । "सब कुछ अधूरा है, और ज्यों ज्यों वह आगे पूरेपन की ओर बढ़ता है । नयी अपूर्णताएं भी उसके आगे स्पष्ट हो जाती हैं ...... कितना बड़ा जीवन । कितना विस्तृत । कितना गहरा । कितना प्रवहमान और उसमें व्यक्ति की ये छोटी छोटी इकाइयाँ प्रवाह से अलग जो कोई अस्तित्व नहीं रखतीं, कोई अर्थ नहीं रखतीं....[2] ।" इस तरह भुवन-रेखा ही नहीं उस उपन्यास के सभी पात्र अपने को तथा अपनी ज़िन्दगी को सार्थक बनाने के प्रयत्न में बेहद विघटित तथा अकेले बन जाते हैं ।

व्यक्ति के अकेलेपन का और एक पहलू "अठारह सूरज के पौधे" में है । ट्रेन का टिकट निरीक्षक अपनी ज़िन्दगी की विरसता से ऊबा हुआ व्यक्ति है । एक ही काम को ज़िन्दगी भर करते रहने की अरुचिकर स्थिति को भोगने केलिए विवश वह व्यक्ति अपने को और ज़िन्दगी को कोसता है । "..... दिन रात ट्रेन में, ट्रेन ही ट्रेन में । मेरा अपना कहीं कोई नहीं है । मैं अकेला हूँ और

---

1. अज्ञेय - नदी के द्वीप - पृ.234
2. वही - पृ.339

अकेला ही रहूँगा, मुझे किसी से कोई सरोकार नहीं, किसी से कुछ लेना, देना नहीं । मैं अकेला, मेरी ट्रेन अकेली । मैं चलता रहूँगा और मेरी ट्रेन भी चलती रहेगी इसी तरह ।[1]

कहने का मतलब यह है कि व्यक्ति के अकेलेपन की स्थिति, अस्मिता का विघटन, जीवन की निरर्थकता का बोध ये सब किसी एक लेखक को पीड़ित करनेवाली समस्याएँ नहीं । वर्तमान युग के लोगों को इन परिस्थितियों से गुज़रना पड़ा है । साहित्य की सभी शाखाओं में - कहानी, कविता, नाटक, उपन्यास - इस नई परिस्थिति का अध्ययन हुआ है । इससे अभिभूत लेखकों की पंक्ति में राकेश भी खड़ा है ।

राकेश की रचना और अस्तित्व संकट

राकेश ने इस समसामयिक स्थिति का व्यापक और पूरी व्याप्ति के साथ चित्रण किया है । पर उन्होंने जीवन की विकृति को तथा कुंठित और अभिशप्त जीवन बितानेवाले पात्रों की पारिवारिक समस्याओं और बनते-बिगड़ते संबन्धों के सीमित दायरे में परखने का प्रयास किया है । पारिवारिक टूटन तथा आर्थिक विवशता व्यक्ति को संत्रस्त कर देती है । फलत: परिवार में भी व्यक्ति अपने को अकेला महसूस करता है । समझौते के अभाव में वह अपने घर में स्वयं मिसफिट बन जाता है । वह अपने को तथा दूसरों को समझने पहचानने में बिलकुल पराजित हो जाता है । उस स्थिति से मुक्ति की कामना में अपने विघटित अस्मिता का सामना करता है । 'वह खुद को पहचानने की कोशिश कर रहा है, लेकिन उसको हर पहचान कहीं परास्त होने का बोध कराती है ।

---

1. रमेश बक्षी - अठारह सुरज का पौधा - पृ. 122

परिणामत: वह किसी स्थापित तत्व के अधीन एक क्षण के लिए भी नहीं रहना चाहता दुविधा यह है कि वह उस विघटित परिवेश से बचने के प्रयत्न में सफल नहीं हो पाता फलत: उसी परिवेश में अन्य सदस्यों के साथ वह सह अस्तित्व के लिए अभिशप्त तथा विवश बन जाता है।

राकेश के प्राय: सभी पात्रों में अहं का बोध मुखरित है। लेकिन वे अहंवादी नहीं हैं। अपने परिवेश से उखड़े हुए हैं। खुद को पहचानने की चेष्टा में वे अनिश्चित जीवन बिताने केलिए विवश बन जाते हैं। अपनी अस्मिता की तलाश में वे संघर्षरत हैं। कामू के शब्दों में, "अस्तित्व की स्थापना केलिए मनुष्य को विद्रोह करना ही पड़ता है।[2]" यह विद्रोह-प्रवृत्ति राकेश के सब पात्रों में है। "सजग बुद्धि का अनिवार्य लक्षण है संघर्ष। और यह संघर्ष व्यक्ति-सत्ता जीवन के असीम अभाव के विरुद्ध निरंतर करती रहती है[3]।" राकेश के पात्र इसी कारण संघर्षरत हैं।

पारिवेशिक संत्रास से राकेश के पात्र सुरक्षित तथा स्वस्थ जीवन की प्राप्ति के लिए कहीं प्रस्थान करते हैं तो कहीं वे अपने से प्रयोग करते हैं। इस प्रस्थान और प्रयोग की मूल प्रेरणा अस्मिता की ख्वाहिश है। पर विसंगति की बात यह है कि मुक्ति की यह छटपटाहट उन्हें निरंतर ख्वाहिश की स्थिति में पहुँचा देती है।

जीवन की विसंगति से पीड़ित व्यक्ति अपने को एक ऐसे कगार पर खड़ा हुआ महसूस करता है जहाँ उसका सारा अस्तित्व नकारा जाता हो। यह उसके अभिशाप का क्षण है। जिजीविषा उसे इस अभिशाप से मुक्त होने की

---

1. भगवानदास वर्मा - आधुनिकता के रचना सन्दर्भ - पृ.100

2. In order to exist man must rebel.
Albert Camus - The Rebel, p.29

3. Wade Vaskin's Introduction to Sartre's Essays in Aesthetic
p.9

प्रेरणा देती है । अतः वह अपनी विघटित अस्मिता को, टूटे हुए सम्बन्धों को तथा विसंगत ज़िन्दगी को फिर से संवार लेने में संलग्न हो जाता है ।

सामाजिक अव्यवस्था, पारिवारिक विघटन, पति-पत्नी का पारस्परिक संघर्ष पराजय-बोध से उत्पन्न निराशा और कुंठा ये सब व्यक्ति की अस्मिता को खण्डित करते हैं, "आज नई परिस्थितियों ने ऐसे कुछ नये अनुभव दे डाले हैं कि वे हमारे अस्तित्व के अंग बन गए हैं । ये हैं अस्तित्व की पीड़ा, संत्रास, अलगाव, निजता की खोज, संघर्ष, स्वाधीनता, मरण, स्त्री-पुरुष संबन्ध और मानव अनुभव । और इन अनुभवों के बीच मनुष्य अपने स्वत्व की खोज में अन्ततः स्वयं अपने लिए एक बहुत बड़ा सवाल बन गया है[1] ।"

पारिवारिक विघटन

पारस्परिक सम्बन्ध के टूटने पर पति-पत्नी दोनों अलग अलग बिन्दु बन जाते हैं । "अंधेरे बन्द कमरे" का हरबंस और नीलिमा ऐसे दो बिन्दु हैं जिनके बीच का सम्बन्ध कब के टूट चुका है । टूटे हुए सम्बन्ध को ढोते रहने की अवांछित स्थिति में हरबंस बेहद संत्रस्त है । वह मधुसूदन से कह देता है, "मैं जब घर से निकला, तो महसूस कर रहा था कि मेरा कोई घरबार नहीं है, कोई सगा-संबन्धी नहीं है, और मैं बिलकुल अकेला हूं । मुझे लगता है मेरे साथ अन्दर ही अन्दर कोई दुर्घटना हो रही है[2] ।"

यह दुर्घटना और कहीं से नहीं हुई बल्कि अपने घर से, अपनी पत्नी से हुई । उस आघात से वह बुरी तरह आहत है । अपनी अस्मिता पर लगे आघात को यों ही स्वीकारते हुए निष्क्रिय रहने या आत्महत्या करने को वह तैयार नहीं ।

---

1. डॉ. गोविन्द चातक : आधुनिक नाटक का मसीहा - मोहन राकेश - पृ.102-3
2. अंधेरे बन्द कमरे - पृ.97-98

उसमें जिजीविषा है । इसलिए वह उस परिवेश से अपनी अस्मिता की तलाश में निकल जाता है, "चाहे कितनी भी अजीब लगे, मगर बात यही है कि मैं यहाँ से जा रहा हूँ । मैं बिलकुल अकेला रहना चाहता हूँ और ज़िन्दगी बिलकुल नये सिरे से आरंभ करना चाहता हूँ ।[1]"

हरबंस तरह तरह के प्रयत्न करता है । अपने मानसिक संत्रास से मुक्त होने केलिए वह विभिन्न पर्वों को स्वीकारने की चेष्टा करता है । वह उपन्यासकार बनना चाहता है अपने को स्वस्थ बनाने केलिए । यह इच्छा भी सफल नहीं होती । अपने उपन्यास के पात्र रमेश खन्ना के सम्बन्ध में वह कहता है, "रमेश खन्ना कई साल तक एक लड़की के प्रेम में उलझता रहा, और जब उस लड़की से उसका ब्याह हो गया तो वह सोच सोच कर उलझने लगा कि उससे किस तरह छुटकारा पाए ।[2]" उसका उपन्यास अधूरा ही रह जाता है ।

हरबंस अपने घर में स्वयं निर्वासित है । नीलिमा और हरबंस एक दूसरे के बिना जीने में असमर्थ हैं । पर झूठे व्यक्तित्व-मोह से दोनों के बीच निरंतर संघर्ष होता रहता है । दोनों अपने ही घर में एक दूसरे से अपरिचित रहते हैं, "मैं जानता हूँ कि मैं ज़िन्दगी में क्या चुन सकता हूँ और मुझे क्या चुनना चाहिए । यह भी जानता हूँ कि मेरे आसपास की दुनिया में किसे मेरी ज़रूरत है और किसे नहीं है । मैं सब कुछ जानता हूँ । खूब अच्छी तरह जानता हूँ ।[3]" इस अयाचित परिस्थिति में एक कीड़ा बनकर रहना हरबंस नहीं चाहता । उसे अपनी अस्मिता का सवाल है । वह लन्दन जाने का निर्णय करता है, "आज मैं हमेशा केलिए इस शहर से विदा ले रहा हूँ । आज से इस शहर और इसकी दुनियाओं में मेरा कोई हिस्सा नहीं होगा ।[4]"

---

1. अँधेरे बन्द कमरे - पृ.99
2. वही - पृ.100
3. वही - पृ.113
4. वही - पृ.112

हरबंस के चले जाने के बाद नीलिमा मैसूर जाके कथक नृत्य का अभ्यास करती है। पर दुविधा की बात यह है कि वे दोनों एक दूसरे से अलग रहने में असमर्थ हैं। हरबंस के बुलाने पर नीलिमा भी लन्दन पहुँचती है। वहाँ भी स्थिति पूर्ववत् ही है। कदम कदम पर हरबंस और नीलिमा को निराशित होना पड़ता है। अपनी बीती हुई ज़िन्दगी की टकराहटों और शिथिलताओं को भूल कर नए सिरे से ज़िन्दगी शुरू करने की उन दोनों की अभिलाषा मिट्टी में मिल जाती है। लंदन पहुँची नीलिमा को "बेबी सिटिंग" करनी पड़ती है। पैसे की कमी के कारण दोनों को काम करना पड़ता है। हरबंस का लंदन निवास असफल ही सिद्ध हुआ। थोड़े ही दिन में पति-पत्नी में संघर्ष शुरू होता है। "मैं दो साल तक कथक और छः महीने भरत नाट्यम का अभ्यास इसलिए नहीं करती रही कि मैं अंग्रेज़ बच्चों को जाँघिये और निक्करें पहनाया करूँ। अगर तुम मुझे ज़बरदस्ती रोकोगी तो मैं तुमसे कहे देती हूँ कि मैं वैसे ही चली जाऊँगी और कभी तुम्हारे पास लौट कर नहीं आऊँगी।"[1] इस प्रकार नीलिमा का कुछ बनने का सारा प्रयत्न मिट्टी में मिल जाता है। जिस मार्ग को वह इच्छापूर्वक ग्रहण करती है उससे भी फिसल जाती है। यही उसकी अस्मिता की निरंतर टूटते रहने की नियति है।

हरबंस के सख्त विरोध करने पर भी नीलिमा उमादत्त के डांस ग्रुप के साथ पर्यटन के लिए चली जाती है। अपनी कला को ही वह सब कुछ मानती है। उसके लिए सब कुछ त्यागने को वह तैयार है।[2] नृत्य उसकी कमज़ोरी बन गई है। उस रास्ते से वह हटना नहीं चाहती। सफल नर्तकी में वह अपना अस्तित्व पाना चाहती है। इसलिए वह हरबंस से स्पष्टतः कहती है, "मैं अपने को बदल नहीं सकती। मेरे अन्दर अपना भी ऐसा कुछ है जिससे मुझे प्यार है और जिसे मैं छोड़ नहीं सकती। तुमने स्वयं ही मेरे अन्दर की उस चीज़ को उकसाया और बढ़ाया

---

1. अँधेरे बन्द कमरे – पृ.221
2. वही – पृ.306

दिया है। .... मैं अब अपने मन से उस रास्ते पर इतना चल आई हूँ कि लौट नहीं सकती तुम्हारे कहने से और तुम्हारे हित के लिए भी नहीं।[1]"

उमादत्त के ट्रुप के साथ नीलिमा वापस नहीं आती। वह वहीं कलाकार ज्वानु के साथ मिल जाती है। वापस आकर उस अस्वस्थ वातावरण का सामना करना उसे पसन्द नहीं। पेरिस में उमादत्त के साथ वापस आने के लिए नीलिमा प्लाटफार्म तक आयी थी। लेकिन गाडी के निकलते वक्त उसे लगा कि वापस नहीं जाना चाहिए। इसका कारण उसे अब भी अव्यक्त है। वह वहाँ रुक गई, "पेरिस में बहुत आकर्षण है, इसमें सन्देह नहीं और इसमें भी सन्देह नहीं कि वह उस शहर को अच्छी तरह नहीं देख सकी। देखना चाहती है। मगर उसके रुकने का क्या यही कारण है? क्यों स्टेशन पर आकर भी उसका गाडी में बैठने को मन नहीं हुआ[2]?"

नीलिमा रस्टारण्ठ में पहुँचती है। वहाँ वह अपने ट्रुप के मित्र ज्वानु को देखती है। ज्वानु नीलिमा के लिए सब कुछ भी करने को तैयार है। नीलिमा को उसकी संगति में बहुत सुख मिलता है। "उसे लगता है कि वह ज्वानु के साथ बाहर जाकर एक नये जीवन का आरंभ कर रही है। मन में और शरीर में वह अपने को बहुत खुश महसूस करती है। हरबंस को चिट्ठी लिखने की बात वह भूल गई है, या कि जान बूझ कर उसने उस बात को भूल जाना चाहा है[3]?"

नीलिमा के लिए यह एक नई अनुभूति थी। उसकी बातों और इच्छाओं की मान्यता उसे ज्वानु से मिली। यहीं पर वह कुछ स्वस्थ हो जाती है। हरबंस ने नीलिमा की अभिलाषाओं पर कभी ध्यान नहीं दिया था, "हरबंस उसे अपनी तरह

---

1. अँधेरे बन्द कमरे - पृ.248
2. वही - पृ.264
3. वही - पृ.286

गंभीर देखना चाहता था और वह चाहती थी कि वे हर समय अपने इर्दगिर्द एक उल्लास और थिरकन महसूस कर सकें। वे दोनों जैसे एक ही घेरे में दो विपरीत दिशाओं में घूमते हुए नक्षत्र थे जो न तो उस घेरे से निकल सकते थे और न ही अपनी दिशा बदल सकते थे। उनके लिए साथ रहना भी अनिवार्य था और विपरीत रहना भी.......।"[1]

नीलिमा पेरिस में अपने को घर के दमघोंटू वातावरण से स्वतंत्र महसूस करती है। उसके ऊपर और किसी का अधिकार नहीं। मन में जो लगता है, बिना किसी रोक टोक के कर सकती है। उसे लगता है कि ज्यान् के साथ अपना अस्तित्व पा सकती है, "वह उस दिन पेरिस में रह कर अपने सब बंधनों से मुक्त हो गई है। वह किसी चीज़ को अब अपने को नहीं बांधने देगी। न किसी विचार को, न भावना को, न कुंठा को। वह उस सामाजिकता से बहुत दूर हट आई है जिसके दायरे में बरसों से भटक रही थी[2]।"

अजीब बात यह है कि दो दिन के अन्दर ही वह ज्यान् के साथ के जीवन से भी ऊब जाती है। वह तुरन्त हरबंस के लिए तड़पने लगती है। ज्यान् के साथ का जीवन भी उसे अपना नहीं लगता। एक दुर्बल क्षण में अपनी बेबसी के कारण उसने ज्यान् को स्वीकार किया था। अब वह उस पर पश्चाताप करती है। उसमें से जो सुख मिला वह बिलकुल क्षणिक था। नीलिमा अपनी वास्तविक भूमि की ओर जाना चाहती है। चाहे वह घर उसके लिए एक अभिशाप बन चुका हो। ज्यान् के साथ के जीवन के दूसरे दिन नीलिमा इस विवशता को स्वयं स्पष्ट करती है, "उसे अफसोस होता है कि वह चली क्यों नहीं गई? उसका उस समय अपने घर में न होकर उस जान दो अजनबी व्यक्तियों के साथ होना कितना अस्वाभाविक

---

1. अंधेरे बन्द कमरे - पृ.285
2. वही - पृ.290

उसका मन होता है कि किसी तरह सम्भव हो, तो वह तुरन्त हरबंस के पास पहुँच जाए और उसकी छाती पर सिर रखकर खूब अकेले रोये, खूब रोये .....।[1]"

नीलिमा जल्दी लंदन वापस आती है और हरबंस को सारी बातें बता देती है। एक विवशता के वशीभूत होकर वह पेरिस में रुक गई थी। लेकिन उसका मन वहाँ भी टिकता नहीं था। उसे अब हरबंस की ज़रूरत है। आवेश में वह कहती है कि हरबंस के बिना ज़िन्दा रहना उसके लिए असंभव है, "जब मैं हवाई [illegible] जहाज़ में बैठ गई, तो मुझे पता चल चुका था कि मैं तुम्हें छोड़कर नहीं रह सकती। ...... बस लेट जाओ[2]।" यही उन दोनों की विवशता है। एक ओर वे अलग होना चाहते हैं दूसरी ओर अलग होते ही मिलने केलिए तड़पते हैं। यही अस्मिता का विघटन है। विघटन से आहत होकर अलग होना चाहते हैं दोनों, पर उसी समय सहअस्तित्व केलिए अभिशप्त भी नज़र आते हैं। वापस आकर नीलिमा दोहराती है, "बंस, मैं हमेशा-हमेशा केलिए तुम्हारे और केवल तुम्हारे ही पास रहना चाहती हूँ[3]।"

नीलिमा कहती भी है कि वह घर-गृहस्थी में लीन रहने केलिए तैयार नहीं। उसकी अपनी एक आस है जहाँ पहुँचने केलिए वह बेचैन है, "मैं नहीं जानती कि मैं एक अच्छी कलाकार बन सकती हूँ या नहीं, लेकिन मैं बनना ज़रूर चाहती हूँ। मैं उसके लिए जितनी मेहनत हो सके, उतनी मेहनत करना चाहती हूँ[4]।" नीलिमा के निरंतर अनुरोध के कारण अन्त में एक प्रदर्शन केलिए हरबंस सहमत होता है। प्रदर्शन की पूर्ण विजय को ध्यान में रखते हुए पोलिटिकल सेक्रेटरी और अन्य प्रतिष्ठित मेहमानों को निमन्त्रित करके पार्टी चलाते हैं। यह प्रदर्शनी नीलिमा के अस्तित्व का

---

1. अँधेरे बन्द कमरे - पृ.300
2. वही - पृ.251
3. वही - पृ.254
4. वही - पृ.255

निर्णायक तत्व है । अपनी विजय-पराजय पर नीलिमा भी शंकालु है । अपने को संतुलित रखने केलिए उसे बहुत मेहनत करनी पड़ती है । ट्रांक्विलाइज़र की टिकिया खा कर वह अपने सन्तुलन को बनाए रखती है । प्रदर्शन के दिन वह काफी अस्वस्थ थी । हरबंस भी एक हद तक चिढ़ा हुआ था । शो के समय नीलिमा मधुसूदन से कहती है, "हरबंस भी नहीं आया, इसलिए मैं अपने आप में इस वक्त बहुत अकेली महसूस कर रही हूँ । तुम शो शुरू होने तक यहाँ मेरे पास ही रहो[1] ।" नीलिमा का मन बेचैन है । वह अस्थिर है । किसी को अपने पास देखना चाहती है ।

प्रतीक्षा के विपरीत उसका प्रदर्शन असफल निकलता है । नीलिमा के जीवन की सारी अभिलाषाएँ टूट पड़ती हैं । वह हरबंस को और हरबंस उसे इस केलिए दोषी ठहराता है । नीलिमा की अभिलाषा केवल अभिलाषा रह जाती है । उसकी पराजय के संबन्ध में मधुसूदन कहता है - "मेरी दृष्टि में वह प्रदर्शन भरत नाट्यम का प्रदर्शन न हो कर उस नाटकीय अन्तर्द्वन्द्व का ही प्रदर्शन था । जब नर्तकी हाँफने लगती थी, तो कई जगह पार्श्व संगीत उसे सहारा देकर उठा लेता था[2] ।"

हाल में खाली कुर्सियाँ ही अधिक थीं । सभी ओर से उसपर टीका-टिप्पणी हुई । इस प्रकार नीलिमा नर्तकी के रूप में पूर्णतः पराजित हो जाती है । यह पराजय उसे हरबंस से फिर अलग करती है । वह घर छोड़कर चली जाती है । उसकी प्रतीक्षा है हरबंस से अलग रहने से फिर से वह अपने को बना सकती है । पराजित और बेचैन मन की सहज प्रतिक्रिया के अतिरिक्त यह और कुछ नहीं । "मैं तुम्हारा घर छोड़कर जा रही हूँ और इसी समय जा रही हूँ । अगर तुम ज़रा भी इन्सान हो तो तुम मुझे रोकने या वापस बुलाने की कोशिश मत करना[3] ।"

---

1. अँधेरे बन्द कमरे - पृ.491
2. वही - पृ.499
3. वही - पृ.518

वह फिर से स्वतंत्र रहना चाहती है । इस प्रकार निरंतर हरबंस और नीलिमा दोनों लड़ते भिड़ते और पुन: सम्मिलित होते रहते हैं । दोनों के मन में ज्यों ज्यों अपने अस्तित्व की व्यथा बढ़ती रहती है त्यों त्यों बाह्य और आन्तरिक स्तर पर वे अजनबी बन जाते हैं । आखिर नीलिमा हमेशा केलिए घर छोड़ जाती है, "हम आज तक भी एक दूसरे केलिए अजनबी थे, मगर इस बात को मानना नहीं चाहते थे । अब आगे केलिए इतना ही फर्क होगा कि हम इस बात को मानकर रहेंगी । अच्छा यही होगा कि आज के बाद न तुम मेरा चेहरा देखो और न ही मैं तुम्हारा चेहरा देखूं । हमें आज से समझ लेना चाहिए कि हम एक दूसरे के लिए मर चुके हैं ।[1]" न वे आपसी समझौता कर सके, न प्रेम । पति-पत्नी के रूप में असफल सिद्ध होते हैं । इस प्रकार उनकी अस्मिता की खोज उन्हें कहीं भी पहुँचाती नहीं बल्कि वे अपने विघटित जीवन की पीड़ा को भोगते हुए अजनबीपन की गहरी खाई में पड़ जाते हैं ।

स्व केलिए आतुर
एकांत पथिक

'अंधेरे बन्द कमरे' का पत्रकार मधुसूदन संपूर्ण जिजीविषा को ढोते हुए उसी में जर्जरित होने केलिए अभिशप्त पात्र है । यद्यपि पत्रकार का जीवन वह पसन्द करता था तथापि पत्रकार बन जाने पर उसको पत्रकारिता का खोखलापन मालूम होने लगा । तब से लेकर वह पत्रकारिता को घृणा की दृष्टि से देखने लगता है । फिर भी पत्रकार के जीवन बिताने की विवशता उसको ढोनी पड़ती है । संपादक तथा पूरा कार्यालय उसके सामने दैत्य-सा खड़ा है । उसके अधीन काम करने केलिए वह विवश है । इसलिए उसके अपने "स्व" को वहाँ कोई स्थान नहीं मिलता । अपने को विनष्ट करते हुए उस भीषण सत्ता के भीतर घुटते रहने केलिए वह अभिशप्त है, "जब संपादक के कमरे की घंटी बजती है और सुरेश उधर चला

---

1. अंधेरे बन्द कमरे - पृ.518

जाता है तो हम लोग आँखों ही आँखों में आपस में कुछ बात कर लेते थे। हमें वहाँ बैठे हुए ज़िन्दगी में आगे-पीछे अँधेरा नज़र आता था। खिड़की बन्द होने पर गैलरी में एक ऐसी घुटन छा जाती थी कि सरदी के दिन में भी मुझे वहाँ उमस प्रतीत होने लगती थी[1]।"

मधुसूदन हर दिन स्कूल के लिए जुतता है। उसे अपने मन-पसन्द कुछ करने का अवकाश नहीं मिलता। बैल के समान काम करते हुए मधुसूदन अपने को और अपनी ज़िन्दगी को निरर्थक अनुभव करता है। वह बहुत से लोगों से संबद्ध है फिर भी दिल्ली जैसे महानगर में वह अपने को अकेला महसूस करता है, "मेरे आसपास कई लोग आ-जा रहे थे, मगर मेरे लिए वहाँ जैसे कोई भी नहीं था। गाड़ियों की एक भीड़ स्टेशन के अहाते में से गुज़र रही थी, मगर मेरे लिए उनकी चमकती हुई बत्तियों और गुर्राते हुए इंजनों का जैसे अस्तित्व ही नहीं था[2]।"

महानगर दिल्ली की भीड़ में मधुसूदन का अस्तित्व खण्डित हो चुका है। अब वह दिल्ली छोड़कर और कहीं जाना चाहता है। अपनी अस्मिता पर लगी चोट उसे चैन नहीं देती। कहीं स्वस्थ नहीं रह पाता। भीड़ से दूर रहना चाहता है। रात भर दुःस्वप्न देखते हुए करवटें बदलता रहता है। पटरी से फिसल कर सुरंगों से बड़ी तेज़ी से चलनेवाली गाड़ी को वह स्वप्न में देखता है। घने अँधेरे जंगल की ओर तीव्र गति से जाने वाली एक गाड़ी बड़ी चट्टानों पर टकराकर अभी चूर्ण हो जाने वाली लगती है, "मैं अपने को इंजन में बैठे हुए पाता हूँ। मेरा शरीर आग की भभक से तपता रहता है, इंजन की गति को मैं एक खतरे की आशंका के साथ महसूस करता हूँ, उसके हर मोड़ को उसी

---

1. अँधेरे बन्द कमरे - पृ.66
2. वही - पृ.117

आशंका के साथ देखता हूँ मगर कुछ कर नहीं पाता।[1]" मधुसूदन को अपना जीवन पटरी से फिसल कर चलने वाली गाड़ी के समान लगता है। अस्मिता की टूटन से उसकी अन्तरात्मा का ध्वंस हो चुका है। वह अस्तित्व हीनता से त्रस्त रहा है। लेकिन अस्मिता की खोज में भटकते भटकते उसे असफलता ही हस्तगत होती है

दोस्तों के बीच भी वह चैन नहीं पाता। नीलिमा और हरबंस की मण्डली में वह अपने को फालतू समझता है, "मुझे दो एक मिनट बैठकर लगने लगा कि मैं बिलकुल फालतू आदमी की तरह उनके बीच बैठा हूँ।[2]" उसके अन्दर जिस अभाव का बोध घर कर गया है वह उसे किसी भी परिस्थिति से हिलने - मिलने नहीं देता। परिचितों के बीच भी वह अपने को अपरिचित पाता है। हरबंस के घर पहुँचने पर उसे ऐसा लगता है, "मुझे महसूस होता था कि वह फर्श और वे दीवारें मेरे जीवन का भाग नहीं है - मैं वहाँ जिस आत्मीयता का अनुभव करता हूँ, उसमें भी कहीं कुछ बेगानापन है।[3]" स्पष्ट है मधुसूदन कहीं चैन पाना चाहता है पर सारी परिस्थिति उसे बेचैन बना देती है। वह अपने को हताश और निराश पाता है। कहीं भाग जाने या कहीं स्वस्थ रहने की अभिलाषा में वह निरंतर असुरक्षित हो जाता है। कस्माकपुरा गाँव में एक ठकुराइन के साथ वह रह रहा था। वहाँ का वातावरण उसे काफी अच्छा लगा था। लेकिन वहाँ से भी वह इस कारण चला जाता है कि वहाँ भी वह अपने को पूर्ण नहीं पाता मधुसूदन अपने "स्व" की खोज में भटकने लगता है। पत्रकार का व्यस्त जीवन उसे यन्त्रवत् बनाता है। अब वह सारे वातावरण से असन्तुष्ट होकर और कहीं जाना चाहता है जहाँ उसे चैन मिले, इज्जत मिले। उसके अन्दर एक ऐसी भूख है जो उसे हमेशा नोच रहा है। उससे वह मुक्ति चाहता है। वह दिल्ली छोड़ कर चला जाता है। "हालांकि आगे केलिए सब कुछ अनिश्चित था और दिल्ली छोड़ कर

---

1. अँधेरे बन्द कमरे - पृ॰125
2. वही - पृ॰37
3. वही - पृ॰73

गाँव चले जाने से केवल नई समस्याएं ही खड़ी हो सकती थी, फिर भी मुझे अपने को संभालने का यही एक उपाय नज़र आता है।"[1]

"न आने वाला कल" के मनोज के समान मधुसूदन अनिश्चितता का शिकार है। एक अव्यक्त बेचैनी में दोनों अपने को कहीं सार्थक पाने के लिए कुछ कर डालते हैं पर सच्चाई यह है कि इनके अन्तर्मन में अस्मिता का विघटन हो चुका है। यह बोध इन्हें कहीं भी स्थिर रहने नहीं देता। अनस्तित्व के कगार पर खड़े होकर मधुसूदन अपने अन्तर्मन का विश्लेषण करते समय पाता है कि उसका जीवन यंत्रवत् बन गया है। इस तरह 'अँधेरे बन्द कमरे' के सारे पात्र अपने सीमित दायरे में कुंठाग्रस्त हैं। जुड़ने और सुरक्षित होने के प्रयत्न में वे बिखरते और असुरक्षित होते जाते हैं।

"न आने वाला कल" का मनोज सक्सेना मिशन स्टेट स्कूल के हिन्दी मास्टर के पद से और उस स्कूल के पूरे वातावरण से असन्तुष्ट ही नहीं, संत्रस्त भी है। पैंतीस साल तक निरन्तर अभावग्रस्त रहते हुए वह बिलकुल आत्मकेन्द्रित हो जाता है। अपने मन की विवशताओं को स्वयं ढोते हुए वह अकेलापन का आदी बन जाता है। वह किसी भी परिस्थिति से संयुक्त रहने में असमर्थ है। स्कूल की नौकरी स्वीकार करने के पहले ही वह आन्तरिक रूप से [illegible] क्षत-विक्षत हो चुका था। फिर जिजीविषा के कारण वह नए सिरे से जीवन शुरू करना चाहता है। अनस्तित्व की व्यथा से मनोज परेशान है। पर वह निष्क्रिय रहना नहीं। मनोज जीना चाहता है अपने अस्तित्व को बनाये रखना चाहता है "मन को आत्महत्या की पटरी पर नहीं चलने देना चाहता था। इसलिए कि उसका कुछ अर्थ नहीं था। "मैं जानता था कि मैं किसी भी स्थिति में आत्महत्या नहीं कर सकता। मैं हर स्थिति के परिणाम को स्वयं देखना चाहता था और जिसमें

---

1. अँधेरे बन्द कमरे - पृ. 123

देखना न हो उस परिणाम की कल्पना ही मुझे झूठ लगती थी।[1]"

अकेलापन को मिटाने और अपने घायल अस्मिता को स्वस्थ करने के उद्देश्य से मनोज शोभा से शादी कर लेता है। शोभा से कुछ दिनों का परिचय भी था। उसकी प्रतीक्षा थी कि शोभा के आने के बाद स्थिति काफी सुधर जायेगी पर सुधरी नहीं। अत: अपने को संभालने में वह स्वयं असमर्थ हो रहा है। 'कुछ दिनों के परिचय की झोंक में शादी तो मैं ने उससे कर ली थी, पर अब मन लगता था कि अन्दर के डर से अपने को कमज़ोर पाकर ही मैंने ऐसा किया था।[2]"

शोभा से शादी मनोज की आहत अस्मिता को और चोट पहुँचानेवाली बन जाती है। अपने अहं केन्द्रित स्थिति से बाहर आना मनोज केलिए असंभव बन जाता है। वह इस स्थिति का आदी हो चुका था। फलत: एक साथ रहने पर भी दोनों एक दूसरे से कट जाते हैं।

दूसरी ओर स्कूल का मास्टरी जीवन है हर दिन उसे वहाँ एक ही काम करना है। स्कूल के छात्रों की रिपोर्ट लिखना, गिरिजा घर में घंटों तक घुटनों के बल बैठे प्रार्थना करना। ये सब कार्य उसकी मानसिकता के विरुद्ध हैं, "मैं कानों में हाथ दबाए चपेल की दीवारों और लोगों के हिलते सिरों को देखता रहा। लगातार तैंतीस मिनट, बिना किसी प्रतिक्रिया के एक ही आदमी की आवाज़ सुनते जाना काफी धीरज का काम था खास तौर से एक गैर ईसाई केलिए।[3]"

स्कूली वातावरण से संत्रस्त मनोज त्यागपत्र देता है। इस आशा के साथ कि अपने संत्रास की इति इससे हो जायेगी। 'यह ज़िन्दगी भी घुटन है,

---

1. न आनेवाला कल - पृ.3।
2. वही - पृ.15
3. वही - पृ. 9

इस घर को छोड़ देने तक ही है । उसके बाद एक नई और अनजानी ज़िन्दगी की खोज अपने आप हर चीज़ में एक गति ले आएगी - एक ऐसी गति जो इस तरह के अवरोध केलिए अवसर ही नहीं रहने देगी[1] ।" स्कूल से जाने के विचार से वह काफी स्वस्थ रहता है । पर अचानक आखिरी दिन में उसके सामने भविष्य एक प्रश्न चिह्न बन कर खड़ा हो जाता है । भविष्य संबन्धी उसकी प्रतीक्षाएँ मात्र प्रतीक्षा रह जाती है । अब उसकी झाईमिस दुगुनी हो जाती है । उसके सामने कोई निश्चित लक्ष्य नहीं है फिर भी वह सामान लिए हुए बस स्टेशन पहुँच जाता है तभी उसे मालूम हो जाता है कि उस समय की "बस" भी नहीं है । इस प्रकार वह न घर का न घाट का रह जाता है ।

"आषाढ़ का एक दिन" का कालिदास अपनी ज़िन्दगी की विपरीत परिस्थितियों से सदा असन्तुष्ट है । उसकी सृजनात्मक प्रतिभा तथा सचेत व्यक्तित्व सदा संत्रस्त है । गाँव के लोगों की लांछनाओं और भर्त्सनाओं से वातावरण भरा है । अतः वह अपने अस्तित्व को निरर्थक पाता है । मातुल की गऊएँ चरानेवाला कालिदास बाह्य तथा आन्तरिक रूप से क्षत-विक्षत है । अपनी कवि प्रतिभा की अवहेलना उसे असह्य है । वह अपने परिवेश को छोड़ने केलिए विवश होता है । मातुल के निम्न लिखित शब्दों में यह अवहेलना निहित है, "मेरी समझ में नहीं आता कि इसमें क्रय-विक्रय की क्या बात है । सम्मान मिलता है, ग्रहण करो नहीं तो कविता का मूल्य ही क्या है[2] ?" मल्लिका के अतिरिक्त कोई भी उसके कवि व्यक्तित्व को मान्यता नहीं देता । उस गाँव में कविता करना दायित्वहीनता का तथा गऊ चराना दायित्व का लक्षण समझा जाता था ।

इस तरह लांछनाओं और भर्त्सनाओं के प्रताड़नों से कालिदास उस ग्राम प्रांतर में अपने को असुरक्षित तथा अस्तित्वहीन पाता है । कालिदास और उसके

---

1. न आने वाला कल - पृ.188
2. आषाढ़ का एक दिन-पृ. 28

परिवेश का यह सम्बन्ध उसके जीवन में विशेष प्रकार की भावनात्मक स्थिति और समस्या को जन्म देता है । उससे वह चारों ओर से घिरा रहता है । उस परिवेश से संघर्ष करना उसकेलिए अनिवार्य हो जाता है "मनुष्य और उसके परिवेश के बीच का यह सम्बन्ध उस की भावना, विचार, स्थिति, समस्या और संकट को जन्म देता है, जिससे वह चारों ओर घिर जाता है । ऐसी स्थिति में संघर्ष एक अनिवार्यता बन जाता है, जिसमें मनुष्य की अपनी भिन्नता की तलाश महत्त्वपूर्ण हो जाती है[1] ।" उस अनिवार्यता के फलस्वरूप ही वह अपनी भिन्नता की तलाश शुरू करता है । उसी फेर में वह राजप्रसाद चला जाता है ।

एक क्राइसिस से बचने का उसका उपक्रम दूसरे एक क्राइसिस में परिणत हो जाता है । राजमहल पहुँच कर उसे शासक की वर्दी पहननी पड़ती है । अपने कवि हृदय के ऊपर शासक का यह कवच उसे सताता है । अपनी प्रतिभा पर लांछन लगानेवाले लोगों से प्रतिशोध करने केलिए ही कालिदास ने वास्तव में राजाश्रय को स्वीकार किया था । उसके मन में राजकीय सुख भोग की ओर आकर्षण नहीं था, "संभवतः उसमें कहीं उन सबसे प्रतिशोध लेने की भावना भी थी जिन्होंने जब-तब मेरी भर्त्सना की थी, मेरा उपहास उड़ाया था[2] ।"

कालिदास उस राजकीय वातावरण में कुछ समय केलिए ही क्यों न हो रम जाता है । पर वहाँ के परिवेश से भी उसे वांछित स्वस्थता नहीं मिली । अपने गाँव में समाज का सारा स्वरूप उसके विरुद्ध था । उज्जयिनी का राजकीय परिवेश भी उसके आंतरिक व्यक्तित्व केलिए विनाशकारी सिद्ध होता है । उसे एक ओर बाह्य परिवेश का सामना करना पड़ता है दूसरी ओर अपने अन्तर्मन का भी । इस प्रकार कालिदास दोनों तरफ से पीड़ित हो जाता है । वह स्वयं को संभालने में भी असमर्थ रह जाता है । परिस्थिति के वश में पड़ कर वह डाँवाडोल हो रहा है

---

1. गोविन्द चातक - आधुनिक नाटक का मसीहा - मोहन राकेश - पृ.103
2. वही - पृ.107

राजदुहिता के साथ शादी करने पर भी वह स्वस्थ पारिवारिक जीवन से वंचित रह जाता है और अनैतिक व्यवहारों में फंस जाता है । मल्लिका के वचनों में कालिदास की बदली स्थिति स्पष्ट है, "व्यवसायी कहते थे, उज्जयिनी में अपवाद है - तुम्हारा बहुत-सा समय वारांगनाओं के सहवास में व्यतीत होता है ।[1]" कालिदास क्यों अपनी बदली हुई परिस्थिति से समझौता न कर सका ? इसलिए कि उसका आहत अहं उसे हमेशा अस्थिर रखता है । वह जिस नई परिस्थिति में अपने को सुरक्षित पाना चाहता है वही परिस्थिति उसे असुरक्षित बना देती है । असुरक्षा-बोध कालिदास को भटकाता है । राजा का पद व्यक्ति के लिए शायद काम्य हो सकता है, पर कालिदास के कवि के लिए नहीं । उसका कवि व्यक्तित्व राजकीय वातावरण में असुरक्षा का अनुभव करता है । अतः वह अस्मिता की खोज करने लगता है। यह खोज हर दृष्टि से पराजित हो जाती है । एक सचेत व्यक्ति के रूप में कालिदास को पराजय का ही सामना करना पड़ता है । कुछ बनने के प्रयत्न में बिगड़ने और बिखरते जाने की स्थिति को स्वीकारते हुए कालिदास अस्तित्व की व्यथा का शिकार बन जाता है ।

राकेश के "लहरों के राजहंस" में भी अस्मिता के विघटन की यह अनिवार्य स्थिति सर्वत्र लक्षित होती है । नन्द और सुन्दरी के जीवन में वह स्थिति स्पष्ट दीख पड़ती है । अवांछित परिस्थिति को मौन स्वीकार करने की विवशता नन्द की अस्मिता का सवाल बन जाती है । बुद्ध-सुन्दरी के बीच बंटा हुआ नन्द चुनाव न कर पाने की स्थिति में पहुंच जाता है । इनके बीच अपनी वास्तविक स्थिति को ढूंढ पाने में वह असमर्थ है । इस विवशता में नन्द की अस्मिता विघटन का शिकार बन जाती है । श्वेतांग के कथन से यह बात स्पष्ट होती है, "कुमार के विरोध करते रहने पर भी उनके केश काट दिए गए । परन्तु कुमार उसी समय उठकर वहां से चले आए । उनकी आंखों में उस समय आंसू थे - जाने केश कट जाने के कारण या अपने मन की बात न कह पाने के कारण ।[2]"

---

1. आषाढ़ का एक दिन - पृ.100
2. लहरों के राजहंस - पृ.128

मृग को समाप्ति से मरे हुए देख कर [बाण से आहत देखकर नहीं] नन्द की अस्तित्व पीड़ा और भी उजागर होती है । वैचारिक उलझन में पड़ा नन्द किसी निर्णय पर पहुँच जाने की छटपटाहट में फंस जाता है । "नन्द की समाप्ति वैचारिक उलझन की समाप्ति है । समाप्ति केवल कार्य करने से ही नहीं होती स्वयं अस्तित्व भी समाप्तिजन्य हो सकता है । और अस्तित्व पीड़ा से भटकाने की स्थिति भी समाप्ति मानी है[1] ।"

दीक्षा प्राप्ति के बाद मानसिक विक्षोभ के साथ वापस आए नन्द को और एक विघटन का शिकार बनना पड़ता है । सुन्दरी के सामने वह और एक आदमी बन जाता है । सुन्दरी कहती है, "वे नहीं आये अलका ! जो लौट कर आया है, वह व्यक्ति कोई दूसरी नहीं है ......[2] ।" पूरा वातावरण नंद के लिए अपरिचित बन जाता है । वह अपने आहत अहं की पीड़ा से संत्रस्त है अपने केशों की तलाश में वह निकल जाता है वास्तव में नंद अपने अस्तित्व की ही खोज में भटक जाता है ।

आघातों पर आघात

कालिदास के कालिदास बनने में मल्लिका अपना अस्तित्व पाती है । इसके लिए वह अपनी जिन्दगी को समर्पित करती है । सभी दुःखों और विपरीत परिस्थितियों को झेल लेती है । कालिदास के कारण वह वास्तविक जीवन में पराजित हो जाती है । उसकी अस्मिता कालिदास की उन्नति में चरितार्थ होती है । न वह उसकी पत्नी बनना चाहती है, न उससे कोई सहायता । पर उसका जीवन-सर्वस्व है कालिदास । वह अपने मन में जिस भावना को टटोलती रहती है वह अमूर्त है, पर सुदृढ़ है । उन पर कालिदास के प्रायः सभी व्यवहारों से कठोर आघात पड़ता है । सबसे सशक्त आघात तब पड़ता है जब कालिदास के

---

1. आधुनिक नाटक का मसीहा - मोहन राकेश - पृ.74

सन्यास ग्रहण की बात मातुल से सुनती है । कालिदास के प्रगति-पथ पर वह मात्र एक अनुदान बनना चाहती है । कालिदास के मार्गच्युत पर मल्लिका की अस्मिता विघटित हो जाती है ।

मल्लिका जिस रूप में कालिदास को देखना चाहती है उस रूप से उसके हट जाने की खबर उसकी अन्तरात्मा में चोट पहुँचाती है । उसने इतने सालों से दरिद्रताग्रस्त और अभावपूर्ण जीवन इसी विचार में बिताया कि कालिदास बनते रहे । "तुम जीवन से तटस्थ हो सकते हो, परन्तु मैं तो अब तटस्थ नहीं हो सकती क्या जीवन को तुम मेरी दृष्टि से देख सकते हो ? जानते हो मेरे जीवन के ये वर्ष कैसे व्यतीत हुए हैं ? मैं ने क्या क्या देखा है ? क्या से क्या हुई हूँ।"[1]

यह विसंगति तब पराकाष्ठा पर पहुँचती है जब वह विलोम की पत्नी बन जाती है । जीवन भर मल्लिका केलिए विलोम अयाचित था । ऐसे व्यक्ति को स्वीकारने की विवशता में उसका अस्तित्व नकारात्मक बन जाता है ।

पारिवारिक जीवन की विसंगति को झेलते हुए नाटकीय जीवन बितानेवाला महेन्द्र नाथ आधे-अधूरे, नालायक और कीड़ा बन जाता है । आपसी सम्बन्ध के निरर्थक हो जाने के कारण उसकी अस्मिता पर चोट लगती है । वह उस घर से, जहाँ सब लोग उससे बदतमीज़ी से व्यवहार करते हैं, चिपका रहता है । "मैं जानना चाहता हूँ कि मेरी क्या यही हैसियत है इस घर में कि जो जब जिस वजह से जो भी कह दे, मैं चुपचाप सुन लिया करूँ ? हर वक्त की दुत्कार हर वक्त की कोंच बस यही कमाई है यहाँ मेरी इतनी सालों की ।"[2] महेन्द्र-सावित्री के बीच का विघटन दोनों केलिए अपनी अपनी अस्मिता का सवाल बन जाता है । पत्नी के तिरस्कार और निन्दापूर्ण व्यवहार ही उसे हरदम सहना पड़ता है । महेन्द्र घर से

पूर्णता की तलाश करनेवाले कुछ आधे-अधूरे

---

1. आषाढ का एक दिन - पृ.100
2. आधे अधूरे - पृ. 38

निकल जाता है । वह सिर्फ परिस्थिति से असन्तुष्ट होकर ही घर नहीं छोड़ता । आहत अस्मिता की तड़प भी उसका कारण है । वह कहीं स्वस्थ रहना चाहता है, "मुझे पता है, मैं एक कीड़ा हूँ जिसने अंदर ही अंदर इस घर को खा लिया है । पर अब पेट भर गया है मेरा । हमेशा केलिए भर गया है और बचा भी क्या है जिसे खाने केलिए और रहता रहूँ यहाँ ?[1]"

पूर्णता की तलाश करनेवाली सावित्री भी अपने आर्थिक, पारिवारिक विघटन से असन्तुष्ट है । सावित्री के व्यक्तित्व का अधूरापन उसकी परिस्थिति का परिणाम है । वह अपने परिवेश से असंन्तुष्ट है । यह असन्तोष उसके स्वभाव को आक्रामक बना देता है । भावात्मक सुरक्षा केलिए वह पूरे आदमी की तलाश करती है । हर व्यक्ति उसकी नज़र में अधूरा और अपूर्ण है । इसलिए पूर्ण पुरुष की तलाश बेकार सिद्ध हो जाती है । पराजित सावित्री अपने से असन्तुष्ट होकर कहती है, "मुझे भी अपने पास उसे मोहरे की बिलकुल-बिलकुल ज़रूरत नहीं है, जो न खुद चलता है, न किसी और को चलने देता है[2] ।"

ज्यों ज्यों पति पत्नी में जब सम्बन्ध हीनता पनपती है त्यों त्यों वे विरुद्ध मार्गों के राही बन जाते हैं । दोनों अपने अपने विघटन से बचना भी चाहते हैं । "सावित्री के अवचेतन में पुरुष का जो बिम्ब निहित है वह उसके अपने [illegible] का ही परिवर्तन मात्र है । वह जिन पुरुषों के संपर्क में आती है, सोचती है कि वह उस बिम्ब का अनुरूप होगा । किन्तु जब वह अनुरूप सिद्ध नहीं होता तो प्रतिकूल अनुभव करती है और उन्हें छोड़ती जाती है।[3]" व्यक्तित्व की व्यथा से पीड़ित सावित्री नैतिक स्तर से भी विचलित हो जाती है । "वह अनेक पुरुषों से

1· आधे अधूरे - पृ·39

2· वही - पृ·93

3· आधुनिक नाटक का मसीहा - मोहन राकेश - पृ·88

संपर्क रखती है, जो महेन्द्र नहीं।" उसे सिर्फ एक ऐसे पुरुष की ज़रूरत है जो महेन्द्र नहीं। अपने अधूरेपन को मिटाने की लालसा में वह घाट घाट का पानी पीती है वह स्वस्थ होना चाहती है और सुरक्षित भी। पर कोई भी पुरुष उसकी आन्तरि संकल्पना के अनुकूल सिद्ध नहीं होता। अंत में वह हर पुरुष से नफ़रत करती है और कहती है, "वह नफ़रत करती है इस सबसे इस आदमी के ऐसे होने से। वह एक पूरा आदमी चाहती है अपने लिए - एक ...... पूरा आदमी[1]।"

जगमोहन के साथ नई जिन्दगी शुरू करने के विचार में सावित्री उसे घर बुला लेती है और उससे साफ़ कह देती है, "मेरे पास अब बहुत साल नहीं है जीने को। पर जितने हैं उन्हें इसी तरह और निभाते हुए नहीं काटूंगी[2]।" वह अब एक ऐसी देहली पर खड़ी है जहाँ से उसका पतन हर निमिष संभव है। उसका एकमात्र आश्रय अब जगमोहन है। वह अपनी सारी मुसीबतें उससे खुल्लमखुल्ला कह देती है, "मैं वहाँ पहुँच गई हूँ जहाँ पहुँचने से [illegible] डरती रही हूँ जिन्दगी भर[3]।" अपने जीवन की इस विक्रांत स्थिति को और सहने में वह असमर्थ है। जगमोहन से नई जिन्दगी शुरू करने का प्रस्ताव रखती है। वह किसी न किसी प्रकार सुरक्षित होना चाहती है पर वहाँ पर असफल निकलती है। कथनों से उसकी यह असफलता स्पष्ट हो जाती है, "तुमने कहा, तुम जैसी भी हो अब इस घर से छुटकारा पा लेना चाहती हो। उसने कहा, कितना अच्छा होता, अगर इस नतीजे पर तुम कुछ साल पहले पहुँच चुकी होती। तुमने कहा, जो तब नहीं हुआ, वह अब तो हो ही सकता है। उसने कहा, वह चाहता है हो सकता, पर आज इसमें बहुत सी उलझनें सामने हैं - बच्चे की जिन्दगी को लेकर, इसको उसको लेकर[4]।

1· आधुनिक नाटक का मसीहा - मोहन राकेश - पृ·88

2· आधे अधूरे - पृ·56

3· वही - पृ·69

4· वही - पृ·91

जिजीविषा की आन्तरिक चेतना उसे जीवन की विसंगति से निष्क्रिय होने नहीं देती । वह उसे अपने स्व की तलाश करने की प्रेरणा देती है । सावित्री की तलाश पूर्णता की अर्थात् पूर्ण पुरुषत्व की तलाश है । उसकी तह में उसकी अस्मिता की खोज है जो विपरीत परिस्थितियों के प्रताड़नों से आहत और विघटित हो गया है ।

टूटी हुई आकांक्षाओं को पुनः साकार पाने की तीव्र इच्छा व्यक्ति में स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होती है । पर एक पराजय से उत्पन्न आशंका उसे सन्दिग्ध बना देती है । "एक और ज़िन्दगी" के प्रकाश का अस्तित्व आहत है । प्रयोग पर प्रयोग करने में वह विमुख दिखाई पड़ता है । यह दुविधाग्रस्त स्थिति उसकी अस्मिता की ह्रासित की उपज है । प्रकाश स्वयं इस स्थिति का विश्लेषण करता है, "आखिर आदमी के पास एक ही तो ज़िन्दगी होती है - प्रयोग केलिए भी और जीने केलिए भी । तो क्यों आदमी एक प्रयोग की असफलता को ज़िन्दगी की असफलता मान लें ?"[1]

प्रथम दाम्पत्य जीवन से लगे आघात से निष्क्रिय होना उसके लेखक केलिए असह्य है । वह अपने अस्तित्व की रक्षा केलिए व्यक्तित्व को क्रियाशील रखता है । जीवन के प्रति उसकी मानसिकता स्वस्थ नहीं । एक पराजय ने उसे बेहद अनिश्चित बना दिया था । इसलिए नए सिरे से जीवन शुरू करने की चाह उसमें पनपती है । पर वह शंकाग्रस्त है, "परन्तु नए सिरे से ज़िन्दगी शुरू करने की कल्पना में सदा एक आशंका छिपी रहती थी । वह जितना उस आशंका से लड़ता था वह उतनी ही और तीव्र हो उठती थी - जब उसका एक प्रयोग सफल नहीं हुआ तो कैसे कहा जा सकता था कि दूसरा प्रयोग सफल होगा ।"[2] टूटे हुए सम्बन्ध सूत्र को

---

1. रोयें रेशे - मोहन राकेश - पृ.93

2. सं.देवीशंकर-अवस्थी - नई कहानी सन्दर्भ और प्रकृति-अ.धनसिंह का लेख - पृ.222

फिर से जोड़ने की अभिलाषा से ही प्रकाश अपने दोस्त की बहन निर्मला से शादी करता है । यह उसका दूसरा प्रयोग है । निर्मला मानसिक रोगी थी । इसलिए उसके साथ की जिन्दगी भी एक और मोहभंग ही रह जाती है । 'मनुष्य न तो छूटी हुई जिन्दगी को छोड़ पाता है और न चुनी हुई जिन्दगी को अपना सकता है । दोनों ओर खींचा जाकर वह खंड-विखंड हो जाता है[1] ।'

'बीगाम' के हेरी विल्सन पत्नी से तिरस्कृत होने पर लंदन से भारत आता है । जिस परिवेश में उसकी अस्मिता का तिरस्कार हुआ, उससे बहुत दूर अनजान भूमि में आकर वह बस जाता है । उस में एक ओर सुरक्षित होने की उसकी चाह है दूसरी ओर अनुकूल भूमि और अस्तित्व की तलाश है । 'आखिर उसने तय किया कि वह कहीं बहुत दूर चला जायेगा - किसी बहुत एकांत जगह पर और अपनी जिन्दगी बिलकुल नये सिरे से शुरू करेगा[2] ।'

भारत के एक छोटे से गाँव में वह बस जाता है । वहाँ की संतों नामक लड़की के साथ वह संपर्क निभाता है । उसका नया जीवन भी उसे वांछित फल नहीं दे पाया । संतों भोली भाली लड़की थी । वह बच्चों के समान हर समय खेलती दौड़ती रहती थी । हेरी की मानसिक भूख को समझने और उसके अनुसार व्यवहार करने में वह असमर्थ थी । हेरी की नयी शुरूआत भी गलत साबित हो जाती है । अस्तित्व की तलाश में पराजित हेरी विल्सन अंत में अपने को दफनाने के लिए कब्र बनाकर अपने मौत की प्रतीक्षा में उस गुमनाम कस्बे में रह जाता है । अस्मिता की तलाश में पराजित हेरी को मृत्यु की इंतजार में दिन काटने की विकराल स्थिति में पहुँचना पड़ता है ।

---

1. डा० देवीशंकर अवस्थी - नई कहानी सन्दर्भ और प्रकृति पृ. 225

2. रोये रेशे - मोहन राकेश - पृ. 143

पारिवेशिक तनाव से मिसपाल नौकरी छोड़कर चली जाती है। वह भी अपने लिए सुरक्षित तथा शांत वातावरण की तलाश में मनाली पहुँच जाती है। उसका रूप विकृत है। इसलिए परिहास की उपेक्षिता है। इस पर उसका मन सदा अस्वस्थ है। दफ़्तर के सभी लोग उस पर व्यंग्य छोड़ते हैं। वह उस वातावरण से अपने को अलग रखना चाहती है। वह अनुभव करती है कि उसका अस्तित्व वहाँ सुरक्षित नहीं है। उसके सामने कोई निश्चित लक्ष्य नहीं है। ~~उसके सामने कोई निश्चित लक्ष्य नहीं~~ फिर भी वह कहीं भाग जाना चाहती है। "मैं सोच रही हूँ कि जितनी जल्दी हो सके यहाँ से चली जाऊँ बस यही बात नहीं तय कर पा रही कि कहाँ जाऊँ।"[1] परिचित लोगों के बीच मिसपाल अपने को अपरिचित तथा मिसफिट महसूस करती है। जीवन उसके लिए एक बोझ बन जाता है। इसलिए वह पेंटिंग में तसल्ली पाना चाहती है जीवन के कटु यथार्थों से आहत होकर मिस पाल कहती है, "मैं सोचती हूँ रणजीत कि मेरे जीने का कोई अर्थ नहीं है।"[2] उसकी सारी अभिलाषाएँ निरर्थक होती जा रही हैं। उसके पास न सूरत है, न धन। पेंटिंग में अपने अस्तित्व को बनाये रखने की उसकी चाह भी मनाली पहुँचने पर निष्फल हो जाती है। उसका हर चित्र अधूरा रह जाता है। पूर्ण बनाने की हर कोशिश उसे अधिक अपूर्णता की ओर ले जाती है। वहीं वह अपनी अस्मिता की पराजय को स्वीकारते हुए बाह्य जगत् से कट कर रह जाती है।

"सुहागिनें" की मनोरमा और सुशील भिन्न मानसिकतावाले पति-पत्नी हैं। मनोरमा अपने को घर गृहस्थी में सार्थक पाना चाहती है। वह माँ बनना चाहती है और घर संभालना भी। सुशील के साथ जुड़ते समय अपनी संकल्पना को सार्थक पाने की अदम्य इच्छा उसमें थी। "वह कल्पना में अपने को एक छोट से

---

1. एक और ज़िन्दगी -(सं)-मोहन राकेश - पृ.66
2. वही - पृ.84

बच्चे को अपने में लिए हुए देखती और पुलकित हो उठती । उसे आश्चर्य होता है कि क्या सचमुच एक जिन्दगी कुलती काया उसके शरीर के अन्दर से जन्म ले सकती है कितनी बार सुशील से कहती थी कि वह इस आश्चर्य को अपने अन्दर अनुभव करके देखना चाहती है । मगर सुशील इसके हक में नहीं था ।"[1]

पत्नी के अन्तर्मन की भूख पर पति सुशील ध्यान नहीं देता । वह अपनी वैयक्तिक मांगों पर व्यस्त रह जाता है । पत्नी की समस्याओं को छोड़कर वह और कई बातों में उलझा जाता है, "सुशील नहीं चाहता था कि वह नौकरी छोड़कर बस घर-गृहस्थी के लायक ही हो रहे । साल छः महीने में सुशील को अपनी बहन उम्मी का ब्याह कराना था । उसके दो छोटे भाई कालेज में पढ़ रहे थे । उन दिनों उन केलिए एक एक पैसे की कीमत थी ।"[2] फलतः मनोरमा और सुशील का दाम्पत्य जीवन नाम मात्र का रह जाता है । मनोरमा अपनी जिन्दगी को रीता और सूखा महसूस करती है । अतः वह मनोरमा घर गृहस्थी में मग्न रहना चाहती है । माँ बनना चाहती है । पर सुशील के साथ की जिन्दगी में उसकी यह आकांक्षा मृग - तृष्णा रह जाती है । सुशील की बातों में वह अभिव्यक्ता नहीं जो मनोरमा चाहती है । इसलिए उसे "ऐसे लगता था जैसे वह एक अरसे से पानी पीने केलिए झुकी हो और उसके होंठ गीले-रेत से छूकर रह गये हो ।"[3] जीवन की संकल्पनाओं के निराधार होने की स्थिति में मनोरमा अपने को अस्तित्वहीन पाती है ।

पति के द्वारा पर-पुरुष के सामने छोड़ देने की विसंगति का शिकार बनकर जीवन को अभिशाप समझनेवाली हैमिलेस भण्डारी । पति मिस्टर भण्डारी

---

1. रोयें रेशे - सं. राकेश - पृ.55-56
2. रोयें रेशे - सुहागिनें - पृ.62
3. वही - पृ.62

पदोन्नति प्राप्त करने केलिए बड़े अफसर के सामने अपनी पत्नी को छोड़ देता है । मिसेज कठारी इस अत्याचार का विरोध करती इस कारण दोनों के बीच का सम्बन्ध नाम मात्र का रह जाता है। रिश्वत लेने के अपराध पर मिस्टर कठारी को गिरफ्तार किया जाता है । सरकार की ओर से उसका घर नीलाम होता है इस प्रतिकूल परिस्थिति में मिसेज कठारी अपने को एक निर्जीव वस्तु महसूस करती है । घर के नीलाम का हर शब्द उसके अस्तित्व पर आघात पहुँचाता है । अंत में वह घर को छोड़ने केलिए सीढ़ियाँ उतरती है । उस समय अपने अन्तर्मन की व्यथा उसे बेहद विकल बना देती है, 'सीढ़ियाँ उतरते हुए उन्हें लगा, जैसे वे आप नहीं उतर रही, घर का आखिरी सामान नीचे पहुँचाया जा रहा है[1] ।"

असुरक्षा बोध और अलगाव मनुष्य में जीवन की विसंगति से उत्पन्न होते हैं । बदली हुई परिस्थिति में व्यक्ति इन समस्याओं से आ टकराता है और घिर जाता है । आधुनिक जीवन में अस्मिता का जो संकट पाया जाता है वह सिर्फ परिवेशिक नहीं है । परिवेश मानवीय अस्तित्व की संकटापन्न स्थिति को उजागर करता है । अतः आज का मनुष्य अस्तित्व संकट का शिकार है । वह त्रिशंकु के समान लटका हुआ है । वह इस विचित्र स्थिति से मुक्त होना चाहता है यानी सुरक्षित होना चाहता है । "व्यक्ति बिना पानी की मछली सा महसूस करता है अनुकूलता केलिए छटपटाता है, 'संतोषजनक सामाजिक दल की माँग करता है - घर लौटना चाहता है[2] ।" सुरक्षा की तलाश में वह घर चाहता है पर सुरक्षित होने की इच्छा मात्र आकांक्षा रह जाती है । राकेश के हर पात्र घर की तलाश करता है और अंत में त्रिशंकु के समान लटक जाता है ।

---

1. जानवर और जानवर [सं०] मोहन राकेश – पृ०107
2. सच्चिदानन्द वात्स्यायन त्रिशंकु - पृ 54

घर राकेश की रचना की मूल चेतना है । उनके सभी पात्र घर की तलाश में निरत दिखाई पड़ते हैं । वे अपने टूटे हुए सम्बन्धों से संत्रस्त नए सम्बन्धों की खोज करते हैं जहाँ वे सुरक्षित रह सकें । हरबंस और नीलिमा की वैयक्तिक मानसिकता से उद्भूत विघटन उन्हें पराया और अजनबी बना देते हैं । वे अपने लिए सुरक्षित परिवेश की तलाश करते हैं । कालिदास पारिवेशिक संत्रास से सुरक्षा का मार्ग खोजता है । नन्द विभिन्न जीवन दृष्टियों के बीच बँट जाता है । सुन्दरी के लिए नन्द अंत में दूसरा आदमी बन जाता है । महेन्द्र और मनोज दोनों सुरक्षित होने के लिए निकल जाते हैं । महेन्द्र निकल जाता है सिर्फ वापस आने की नियति के शिकार बनने के लिए । मनोज कहीं जाता नहीं । वह शुरू में ही प्रस्थान की निरर्थकता से अभिज्ञ होकर वहीं रुक जाता है ।

"आधे अधूरे" की सावित्री और "अंधेरे बन्द कमरे" की नीलिमा दोनों एक ऐसा घर चाहती हैं जिसमें वे अपना अपना अधिकार जमा सकें । इन सबके प्रयत्न अंत में गलत साबित होते हैं । हर पात्र अपने निरंतर तलाश के बाद स्वयं अपरिचित बन जाता है । कालिदास, नन्द, नीलिमा - हरबंस, प्रकाश - वीना, महेन्द्र - सावित्री सबके सब वापस आते हैं फिर से जुड़ने की आकांक्षा लेकर । पर वे एक ऐसे कगार पर आ खड़े हो जाते हैं जहाँ वे एक दूसरे के अपरिचित बन जाते हैं, "वह बार बार भटक जाता है और जीवन की नियति उसे घर लौटा लाती है । व्यक्ति की असहाय स्थिति निरर्थकता का अहसास, परिस्थिति को अपने अनुकूल न बना सकने की विवशता, द्वन्द्व तथा आत्मा बोध भी उनके पात्र को घर लौटा लेने में सहायक होता है ।"[1]

इस प्रकार जिन्दगी भर अपनी अस्मिता की खोज में भटकने के बाद राकेश के सारे पात्र अस्तित्वहीनता के शिकार बनकर वापस आने के लिए अभिशप्त बन जाते

---

1. आधुनिक नाटक का मसीहा - मोहन राकेश - पृ.109

निष्कर्ष

1. अस्मिता ही अस्तित्व है । अस्मिता को पहचानना व्यक्ति की सचेतनता का परिचायक है । रचनाकारों की अभिव्यक्ति इस ओर एक प्रयास है ।

2. व्यक्ति अपने अपनत्व पर तब सजग हो जाता है जब वह प्रतिकूल घटनाओं का सामना करता है ।

3. कलाकार सर्वाधिक सचेत व्यक्ति है । जीवन की अवांछित घटनाओं के सम्मुखीकरण से कलाकार में विघटन का बोध उत्पन्न होता है फलतः वह अन्तर्मुखी बन जाता है ।

4. अस्मिता का विघटन व्यक्ति के जीवन में विसंगति का रूप धारण करता है ।

5. व्यक्ति अथवा कलाकार इस विसंगति के बीच में अपनी सार्थकता खोजता है । यही उसकी अस्मिता की खोज है ।

6. कामू का अभिमत है - अस्तित्व को बनाए रखने का एकमात्र उपाय विद्रोह है

7. विद्रोह विसंगति बोध से उत्पन्न होता है । अपनी अस्मिता का आग्रह रखने वाला विद्रोही बनता है ।

8. आधुनिक अस्तित्ववादी दार्शनिक चिन्तन दो महायुद्धों के भीषण परिणामों प्रभावित है ।

9. वर्तमान मनुष्य अपना भविष्य अंधकारपूर्ण समझता है ।

10. यान्त्रिक सभ्यता ने मनुष्य को यंत्र का पुर्जा बना दिया है । आज का मनुष्य अपने अस्तित्व पर भी सन्देह अनुभव करता है ।

11. आधुनिकीकरण ने मनुष्य को अकेला बना दिया है और उसके अस्तित्व को खण्डित कर दिया है ।

12• युद्धोत्तर पश्चिमी साहित्य में वर्तमान मनुष्य की इस विसंगत अवस्था का भलीभांति प्रतिफलन मिलता है । सार्त्र, कामू, काफ्का जैसे दार्शनिक साहित्यकारों ने इस पर गंभीरता से विचार किया है ।

13• स्वाधीनता प्राप्ति के बाद की निराशाजनक परिस्थितियों के कारण यह प्रवृत्ति भारत में भी व्याप्त होने लगी । पर पश्चिमी तथा भारतीय परिवेश में मौलिक अन्तर है ।

14• हिन्दी में इस प्रवृत्ति का प्रथम स्फुरण अज्ञेय साहित्य में पाया जाता है । शेखर एक जीवनी नई संवेदना का पर्दाफाश करते हुए अवतरित होती है ।

15• राकेश ने ही इस स्थिति को पूरी व्यापकता के साथ चित्रण किया है । राकेश के प्रायः सभी पात्रों में अहं का बोध मुखरित है ।

16• उनके सभी पात्र अस्तित्वहीनता, असुरक्षा बोध की यंत्रणा आदि से बेहद पीड़ित है ।

……

चौथा अध्याय

राकेश की रचनाओं में आत्मनिर्वासन

चौथा अध्याय

राकेश की रचनाओं में आत्मनिर्वासन

सृजनात्मक प्रतिभा के व्यापारों में आत्मनिर्वासन एक अनिवार्य स्थिति है । वह व्यक्ति के आत्मिक संपर्क विहीन होने की स्थिति का परिणाम है । वह समयबद्ध समस्या नहीं ।

हर विचारशील व्यक्ति इससे पीड़ित है । जीवन की गहन वास्तविकता की ओर वह दृष्टि डालता है । अपने जीवन की निरर्थकता और अभिशाप से वह अभिभूत होता है । प्राचीन काल से लेकर अब तक के सभी बुद्धिजीवी और कलाकार अपने अपने परिवेश में आत्मनिर्वासित रहे हैं । वाल्टर काफमेन इस बात को यों स्पष्ट करते हैं[1] ।

---

1. My central interest is not in the concept but in the conditions to which it has been applied. These are widely held to be specifically modern, but, I hope to show that they are common to most, if not all, of the great philosophers of past. I shall deal similarly with literature and art, not only with a few major poets of the past but also with oedipus and Hamlet and with the public's relation to literature art and music.

Walter Kauf mann's Introduction to Richard Schacht's Alienation, p.xiv

हिन्दी में मोहन राकेश ऐसे कलाकार हैं जिन्होंने बौद्धिक तथा वैयक्तिक स्तर पर आत्मनिर्वासन की पीड़ा को सर्वाधिक भोगा है। राकेश में आत्मनिर्वासन एक अनिवार्यता है। वह अपने जीवन में हमेशा एक असुरक्षा बोध से पीड़ित रहे। उनका रचनात्मक अहं हमेशा एकान्त चाहता था[1]। उनका व्यक्तित्व एक द्वैत के आसपास संकेंद्रित था[2]।

राकेश की पात्र - परिकल्पना आत्मनिर्वासन की अनिवार्यता की उपज है। कुछ पात्र एक ओर अपनी अस्वतंत्रता या अस्तित्वहीनता से सचेत होकर स्वतंत्रता केलिए लड़ते लड़ते पराजित हो जाते हैं, दूसरी ओर घर की तलाश में भटकते हुए बेघर होने की स्थिति में पहुंच जाते हैं। घर की विघटित स्थिति से उबरने और नए घर की स्थापना करने केलिए आतुर बन कर वे भटकते हैं और अंत में पराजय का शिकार बन जाते हैं। और कुछ पात्र संबन्धहीनता की स्थिति से संत्रस्त नज़र आते हैं। उनमें संक्रमणशीलता है।

संक्रमणकालीन स्थिति में व्यक्ति अपने में सीमित हो जाता है। यह ठीक है, राकेश का रचना संसार अपेक्षाकृत सीमित है। इसका मतलब यह नहीं कि वे सीमित रचना-दृष्टि के लेखक हैं। वैयक्तिक परिवेश के निगूढ़ अन्तरालों के बीच वे अपने को पाते हैं, अपने पात्रों को परिकल्पित करते हैं।

स्वतंत्रता-बोध

स्वतंत्रता का बोध व्यक्ति की जागरूकता और रचनात्मकता का परिणाम है। अपने मनोनुकूल जीने और परिस्थिति को चुनने का स्वातंत्र्य हर सचेत व्यक्ति केलिए एक अनिवार्यता है। इसी को अस्तित्ववादी चुनाव की स्वतंत्रता कहते हैं। व्यक्ति अपने को अभिव्यक्त करना चाहता है। जहाँ इस केलिए बाधा उत्पन्न होती है वहाँ वह अस्वतंत्रता महसूस करता है। अस्वतंत्रता का

---

1. मोहन राकेश - आखिरी चट्टान तक
2. अनीता राकेश- चंद सतरें और

एहसास व्यक्ति के अस्तित्व के लिए एक समस्या बन जाता है । फलत: वह एक अनिश्चितता के बीचों बीच खड़ा हो जाता है । राकेश के बहुत से पात्रों में यह खास स्थिति प्रबलतर दिखाई पड़ती है ।

अन्तर्मन का विघटन और उससे उत्पन्न स्वतंत्रता की तलाश

अपने ग्राम प्रांतर को छोड़कर राजप्रासाद चले जानेवाला कालिदास (आषाढ़ का एक दिन) स्वतंत्रता का अन्वेषी है । वह कहता है कि उसके चले जाने में उन लोगों के प्रति प्रतिशोध की भावना है जिन्होंने समय समय पर उसकी भर्त्सना की है । लेकिन उसके प्रस्थान की तह में उसकी अन्तरात्मा की प्रेरणा है जो कभी भी अस्वतंत्र रहना नहीं चाहती । राजप्रासाद में उसे सब कुछ मिलता है पर मात्र अन्तर्मन की शांति नहीं मिलती । कालिदास में जो कवि है वह अपना अस्तित्व पाना चाहता है । लेकिन दौर्भाग्य यह है कि बदली परिस्थिति कालिदास के कवि को ही नहीं, उसके समूचे अस्तित्व को ही खण्डित कर देती है । कवि कालिदास को शासकीय वर्दी में मातृगुप्त बनना पड़ा । उसका अन्तर्मन इन प्रतिकूल परिस्थितियों से संघर्ष करता रहा । धीरे धीरे वह टूटता रहा । "और एक दिन....... एक दिन मैं ने पाया कि मैं सर्वथा टूट गया हूँ । मैं वह व्यक्ति नहीं हूँ जिसका उस विशाल के साथ कुछ भी सम्बन्ध था ।"[1]

अस्वतंत्रता स्वतंत्रताकामी चेतना को निरंतर विकल करती रहती है । अतएव कालिदास उस परिवेश से भी भाग जाता है, "मैं केवल मातृगुप्त के कलेवर से मुक्त हुआ हूँ जिससे पुन: कालिदास के कलेवर में जी सकूं ।"[2] यही कालिदास की स्वतंत्रता का अन्वेषण है । मातृगुप्त के कलेवर से मुक्त होने पर भी वास्तव में कालिदास स्वतंत्रता का अनुभव नहीं कर पाता । उसका कवि हमेशा अस्वतंत्र ही

---

1. आषाढ़ का एक दिन - पृ.108
2. वही - पृ.105

रह जाता है । अंतिम प्रयत्न के रूप में वह मल्लिका के सामने आ पहुँचता है । पर मल्लिका के "वर्तमान" से आहत होकर अंधकार पूर्ण रात की भीषण वर्षा में भीगते हुए वह लक्ष्यहीन चला जाता है । जीवन की विसंगति से संघर्षरत कालिदास यहीं आत्मनिर्वासन की चरम सीमा में पहुँच जाता है ।

"लहरों के राजहंस" का नन्द चुनाव न कर पाने की विसंगति का शिकार है । बुद्ध के प्रति उसका खिंचाव जीवन की अल्पस्थायी निवृत्तिपरता का उदाहरण है । सुन्दरी के जीवन की उन्मुक्त अवस्था से मुक्त होकर स्वतंत्रता की व्यापक भूमि की तलाश करने की त्वरा नन्द को आतंकित करती रहती है । नाटक के प्रारंभ में प्रदर्शित पुरुष मूर्ति नन्द की अस्वतंत्रता का द्योतक है । "शिखर पर पुरुष मूर्ति बाहें फैली हुई तथा आँखें आकाश की ओर उठी हुई है[1] ।"

बुद्ध में जो पूर्णता है वह नन्द में नहीं । नन्द की अपूर्णता उसकी अस्वतंत्रता है । इसलिए वह स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करता है । पर वह कहीं पहुँचता नहीं । अंत में वह अपने को चौराहे पर खड़ा नंगा आदमी समझता है जिसे सभी दिशाएँ लील लेना चाहती हैं[2] । नंगेपन का बोध उसकी खंडित स्वतंत्रता-बोध का परिणाम है । अस्वतंत्रता की पीड़ा को सहते हुए अपने को नंगा पानेवाला नन्द पूर्णतः आत्मनिर्वासित है ।

स्वतंत्रता एक ऐसी स्थिति है जहाँ व्यक्ति अपने को सारे बन्धनों से मुक्त तथा मन को शांत महसूस करता है । खुले आकाश में स्वच्छन्द साँस लेने की अभिलाषा व्यक्ति को अपने अस्तित्व के सम्बन्ध में सचेत करती है । "न आने वाला कल" का मनोज अपने को सर्वत्र अस्वतंत्र तथा परिस्थिति से जकड़ा हुआ पाता है । स्पष्टतः कुछ कहने या करने में वह असमर्थ बन जाता है उसके अन्तर्मन में

1· लहरों के राजहंस – पृ·3।

2· वही – पृ·149

ज़िन्दगी के बारे में अपना एक अवबोध है । उसकी पूर्ति ही उसका लक्ष्य है । यह अवबोध व्यावहारिक जीवन से टकराता है । व्यावहारिक जीवन उसकी भावना के अनुकूल नहीं निकलता । यहीं वह संघर्षरत बन जाता है । सारे सम्बन्धों को वह बन्धन समझता है और उनसे मुक्त होने का प्रयत्न करता है । पर जिससे मुक्त हो जाये, उसका कोई स्पष्ट रूप उसके सामने नहीं, "कुछ था जिससे मैं छुटकारा चाहता था । उस कुछ का दबाव शोभा के आने से पहले भी था, शोभा के साथ रहते भी था, अब भी था । वह कुछ क्या था ?"[1] ।

स्कूली वातावरण से उत्पन्न घुटन और संत्रास से मुक्ति पाने केलिए उसने शोभा से शादी की थी । पर वह उद्यम भी बेकार निकला । एक बन्धन से मुक्त होने की बेबसी में वह और अधिक बन्धनों में फँस जाता है । संत्रस्त मनोज जीवन की ऊब से मुक्त होना चाहता है । स्कूल के नियमों के अनुसार अपने को ढालने में वह असमर्थ है । इसलिए वह इस्तीफा देता है । मनोज अपने मन को शांत करने का प्रयत्न करता है । इस केलिए वह निरंतर संघर्ष करता ही रहता है । नौकरी से इस्तीफा इस संघर्ष का परिणाम है । "रविवार था । मेरी ड्यूटी का आखिरी दिन । सुबह से मैं अपने को विश्वास दिला रहा कि दिन पूरा होने के साथ मैं उस ज़िन्दगी से नाता कट चुका हूँगा ।"[2] पर हर प्रयत्न के तुरन्त बाद उसे वह निरर्थक लगता है ।

मनोज स्वतंत्रता केलिए तड़प रहा है । उसकी अस्मिता खुले आकाश की मांग करता है । वह अपनी वर्तमान स्थिति से मुक्त होकर एक ऐसी सत्ता को प्राप्त करना चाहता है जिसके स्पष्ट रूप के सम्बन्ध में वह स्वयं अनभिज्ञ है । उसकी आन्तरिक भूख बाह्य जगत् से मेल नहीं खाती । इस स्थिति में वह स्वयं एक बोझ बन जाता है । उसकी मुक्ति की छटपटाहट एक आहत क्रन्दन में परिणत हो जाती

---

1. न आने वाला कल - पृ.29
2. वही - पृ.124

"मैं कुछ देर कमरे के बीचों बीच खड़ा रहा। क्या वास्तविक समस्या इस सब से — इस सब के बीच अपने को ढोने की बेबसी से छुटकारा पाने की नहीं थी ?"[1] मनोज अपने को मुक्त करने केलिए ही नौकरी छोड देता है। उसके सामने तब भी भविष्य की अनिश्चितता है। इस अनिश्चितता बोध से वह पूरी तरह आक्रांत हो जाता है। यहीं मनोज आत्मनिर्वासित बन जाता है।

मनोज सक्सेना ही नहीं "न आने वाला कल" के सभी पात्र स्वतंत्र होने के इच्छुक हैं। सब एक अपरिभाषेय संत्रास को सहते हुए तड़पते हैं। स्कूली वातावरण से मुक्त होने का बहाना ढूंढते हैं। कोई नौकरी से छुटकारा पाना चाहता है तो कोई विपरीत परिस्थिति से संघर्ष न कर पाने की स्थिति में निष्क्रिय जीवन बिताता है। मिसेज दारूवाला नौकरी छोड़कर स्वतंत्र जीवन बिताना चाहती है। पर नौकरी छोड़ने के बाद की स्थिति के सामना करने की हिम्मत उसमें नहीं, "मन में हम में से हर एक का करता है नौकरी छोड देने का, पर सचमुच नौकरी छोड देने से ......[2] ।"

अनिश्चितता-बोध ही व्यक्ति के मन को संत्रस्त कर देता है। संत्रास से मुक्त होने के संघर्ष में वह निरत रहता है। मिसेज दारूवाला थोड़ा बहुत लिखती भी है, "मैं कुछ थोड़ा-बहुत लिखती रहती हूँ कभी कभी। मन में आता है कि अगर उसीसे कुछ आमदनी हो सके.... डेढ़-दो सौ तक भी.... तो ..... तुम जानते हो मैं बिलकुल अकेली हूँ अब।"[3] लिखकर वह अपने को बिलकुल स्वतंत्र रखना चाहती है। इस विचार के सामने बाधा के रूप में भविष्य की अनिश्चितता खड़ी हो जाती है। उसका अन्तर्मन उस घुटन-भरे वातावरण में हर निमिष संत्रस्त है। पर मुक्त न हो पाने की स्थिति में वह आत्मनिर्वासित रह जाती है। परिणामतः उसकी मुक्ति की कामना अधूरी ही रह जाती है और वह असफलता की पीड़ा को सहने केलिए अभिशप्त भी।

---

1. न आने वाला कल - पृ.29
2. वही - पृ.136
3. वही - पृ.137

स्वतंत्र जीवन बिताने की लालसा में बिलकुल अकेली रहनेवाली नारी है मिस बानी । वह अपने ऊपर किसी का अधिकार सह नहीं सकती । "मैं नहीं चाहती कि किसी भी आदमी का मुझ पर इतना अधिकार हो कि मैं उसके बिना जी ही न सकूँ ।"[1] बानी के मन में स्वतंत्र जीवन की अपनी एक धारणा है । उस रास्ते से बहुत गुज़र जाने के बाद उसे मालूम हुआ कि उसका रास्ता सही नहीं । उस समय वह ज़िन्दगी की विसंगति का सामना करती है और दूसरा मार्ग तलाशती है । मिस बानी अपनी गलत धारणा को मनोज के सामने व्यक्त करके अपनी पराजय स्वीकार करती है । और उसके [मनोज के] साथ नई ज़िन्दगी शुरू करने की इच्छा प्रकट करती है । पूर्णता और स्वतंत्रता की खोज में मिस बानी "आधे अधूरे" की सावित्री के समान कहीं पहुँच नहीं पाती । दोनों ज़िन्दगी को कोसते हुए आत्मनिर्वासित रह जाती हैं ।

"अँधेरे बन्द कमरे" का मधुसूदन एक और स्वतंत्रताकामी व्यक्ति है । महानगरीय वातावरण में वह जीर्ण हो रहा है । किसी न किसी प्रकार वह अपने को स्वस्थ बनाना चाहता है । पर कहीं भी वह स्वस्थ नहीं रह सकता । भीड़ के साथ रहते हुए भी वह अपने को बिलकुल अकेला और आश्रयहीन पाता है । ज़िन्दगी उसे बोझिल बन जाती है । बोझ से बचने का सारा प्रयत्न उसे बेहद अस्वस्थ बना देता है । "और मैं जानता था कि वह दिन बहुत आसपास आ रहा है जब सचमुच मुझे वह नौकरी छोड़ देनी पड़ेगी । मेरे धुंध के गोले दिन-ब-दिन गहरे होते जा रहे थे और मुझे उनसे बचने का कोई उपाय नज़र नहीं आता था । मैं दफ़्तर से उठकर घर आता तो वे गोले मेरे आगे पीछे घूम रहे होते और सड़क पर, बस में या कॉफी हाउस में कहीं भी मेरे साथ न छोड़ते ।"[2]

1· न आने वाला कल - पृ·161

2· वही - पृ·120

मधुसूदन के लिए अपना भविष्य अनिश्चित है । उसका वर्तमान पराजय है और अतीत कटु अनुभवों से भरा । ये अनुभव उसे कहीं भी स्थिर रहने नहीं देते । ज़िन्दगी भर भटकते भटकते मधुसूदन बेहद थक चुका है और अंत में वह अपने पुराने गाँव कसाबपुरा की ओर वापस जाता है[1] । इस वापसी में उसकी ज़िन्दगी का पराजय-बोध है, तज्जन्य आत्मनिर्वासन की अतिवेदना है ।

व्यक्ति अपने लिए सामाजिक स्वीकृति चाहता है । यह स्वीकृति व्यक्ति के अपने परिवेश तथा वातावरण के माध्यम से दूसरों की उपस्थिति में ही सार्थक हो जाती है । जहाँ अपनी सार्थकता नहीं पा सकता, वहाँ व्यक्ति अपनी अस्मिता को खण्डित पाता है । "मिस पाल" कहानी की मिस पाल इस विघटन से संत्रस्त है । निन्दा और परिहास के माहौल में मिस पाल अपने को बेहद अस्वतंत्र पाती है । अपने दफ़्तर के लोगों से भी वह तिरस्कृत बन जाती है । वह नौकरी से इस्तीफ़ा देकर उस वातावरण से दूर भाग जाना चाहती है, "मैं सोच रही हूँ कि कहीं दूर एक खूबसूरत-से पहाड़ी इलाके में चली जाऊँ और वहाँ रहकर संगीत और चित्रकला का ठीक से अभ्यास करूँ । ...... बाहर रहने में कम से कम मुझे अपनी स्वतंत्रता होगी[2] ।"

अस्तित्व विहीनता की तड़प व्यक्ति को बिन्दु से बिन्दु की ओर भटकाती है । इस भटकाव में व्यक्ति की आकांक्षा उत्तरोत्तर निरर्थक साबित होती रहती है[3] । चित्रकला में अपनी अस्मिता को सार्थक पाने की मिस पाल की अभिलाषा भी अंत में अधूरी ही रह जाती है । अधूरे तथा विकृत चेहरेवाले चित्र ही मिस पाल खींच सकी । ज़िन्दगी की विषमता का सामना करते करते मिस पाल बाह्य जगत से तथा अपने आपसे कट जाती है ।

---

1. अँधेरे बन्द कमरे - पृ.539
2. मोहन राकेश - एक और ज़िन्दगी (सं) - पृ.64-65
3. वही - पृ.82

संबन्धों की सार्थकता में मनुष्य अपनी ज़िन्दगी को मूल्यवान पाता है । सम्बन्धों का विघटन उसकी सारी आकांक्षाओं को जड़ से उखाड़ फेंक देता है । विघटित ज़िन्दगी में व्यक्ति अपने को असुरक्षित पाता है । यह असुरक्षा बोध व्यक्ति केलिए असह्य है । वह सुरक्षा का मार्ग तलाशता है ।

संबन्धों की टूटन और तज्जन्य असुरक्षा-बोध

"आधे अधूरे" का महेन्द्र अपने घर में एक मोहरा है, रबड़ का टुकड़ा है । वहाँ उसे कोई भी मान्यता नहीं[1] । एक अवांछित अवस्था को सहते हुए घर कुत्ते के समान रहना उसकी अस्मिता केलिए असह्य है । महेन्द्रनाथ आन्तरिक स्तर पर बेहद संत्रस्त है । अपने घर में स्वयं असुरक्षित महेन्द्र घर छोड़कर चला जाता है । यही असुरक्षा बोध सावित्री को भी खटकता है[2] । वह अपनी ज़िन्दगी में सुख और चैन पाना चाहती है । "मेरे पास बहुत साल नहीं है जीने को । पर जितने हैं उन्हें मैं इसी तरह और निभाते हुए नहीं काटूँगी[3] ।" सुरक्षित होने की बेचैनी में वह जगमोहन के साथ नई ज़िन्दगी शुरू करने की बात सोचती है । पर सावित्री भी उसी घाट पर पहुँच जाती है जहाँ कालिदास, नन्द और महेन्द्र पहुँच गये हैं ।

"आधे अधूरे" की बड़ी लड़की बिन्नी अपने को पिंजड़े में बँधी हुई चिड़िया समझती है । अपना घर उसकेलिए एक पिंजड़ा है, "मुझे कई बार लगता था कि मैं एक घर में नहीं चिड़िया - घर के पिंजरे में रहती हूँ यहाँ ....[4] । बिन्नी पिंजड़े से मुक्त होना चाहती है । वह मनोज के साथ भाग जाती है ।

1· आधे अधूरे - पृ·38

2· वही - पृ·39

3· वही - पृ·56

4· वही - पृ·79

पर उसका यह प्रयत्न उसे अधिक अस्वस्थ बना छोड़ता है। वापस आकर उसी पिंजड़े में बन्द होने केलिए अभिशप्त बन जाती है।

लड़का अशोक अपने पिता के समान निष्क्रिय रहता है। अपने टूटे हुए घर की सारी विकृति को अन्दर ही अन्दर भोगने वाले, आत्मनिर्वासन की पीड़ा से संत्रस्त अशोक कहता है, "मैं ही शायद इस घर में सब से ज़्यादा नाकारा हूँ[1]।" वह आगे कहता है, "मैं खुद अपने को बेगाना महसूस करता हूँ यहाँ .....[2]।"

आज के सामाजिक जीवन की अस्थिरता का एक स्तर इन पात्रों के विश्लेषण के दौरान आँका जा सकता है। पर इन में सामाजिक अस्थिरता की मात्र भूमिका ही नहीं अपितु अस्तित्वहीनता की तड़प भी है जिसे अस्तित्ववादी मुहावरे के अनुसार परिभाषित कर सकते हैं।

व्यक्तित्व के अन्वेषण के पीछे, वस्तुतः स्वतन्त्रता बोध ही काम करता है 'अँधेरे बन्द कमरे' की नीलिमा और हरबंस दोनों अपने अपने व्यक्तित्व की तलाश में हैं। परस्पर जुड़कर रहने पर भी दोनों बिगड़े हुए हैं। टूटे हुए सम्बन्ध की तीक्ष्णता से बचने के प्रयत्न में हरबंस प्रस्थान करता है। सुरक्षित माहौल की तलाश में लंदन पहुँचनेवाला हरबंस अपने को और अधिक असुरक्षित और अकेला पाता है। "मेरा दिमाग बिलकुल खाली हो गया है और स्नायु बिलकुल जड़ हो रहे हैं। यहाँ आकर मैं पहले से अधिक अस्थिर हो उठा हूँ। एक भी रात मुझे ठीक से नींद नहीं आयी[3]।"

---

1. आधे अधूरे - पृ.55
2. वही - पृ.59
3. अँधेरे बन्द कमरे - पृ.146

जीवन की विसंगति यह है कि कुछ बनने के परिश्रम में मनुष्य आहत और पराजित हो जाता है। नीलिमा की स्वतंत्रता की तलाश भी मृगतृष्णा रह जाती है।

गृहासुरता

गृहासुरता व्यक्ति के सुरक्षित होने की आकांक्षा से उत्पन्न होती है। मनुष्य की मौलिक कामनाओं से ही उसका संबन्ध है। वह सुरक्षित ज़िन्दगी को पाने के लिए निरंतर प्रयत्नशील रहता है। लेकिन उस व्यग्रता को परिभाषित करने में वह असमर्थ है। कभी कभी वह प्रस्थान करता है तो कभी वापस आता है। कभी कभी ज़िन्दगी से प्रयोग करता है। इन सब प्रवृत्तियों की प्रेरक शक्ति व्यक्ति के आहत मन की अतिवेदना है।

अन्तरात्मा का क्षोभ और घर की तलाश

"आषाढ का एक दिन" का कालिदास अपनी अभावपूर्ण परिस्थिति से बचने की चेष्टा में कई प्रलोभनों में पड़कर कवि सम्राट तक भटकता रहता है। अंत में अपनी अपूर्ण इच्छाओं का बोझ लिए वह वापस आता है। कहीं सुरक्षित न हो पाने की स्थिति में अपनी अभिलाषाओं को टटोलते हुए मल्लिका के पास वापस आनेवाले कालिदास में गृहासुरता का दूसरा रूप है। वह मल्लिका से कहता है "परन्तु इससे आगे भी तो जीवन शेष है हम फिर अथ से आरम्भ कर सकते हैं[1]।" लेकिन मल्लिका के वर्तमान से कुछ न पा सकने की विवशता में कालिदास आत्मनिर्वासित बन जाता है।

---

1. आषाढ का एक दिन - पृ. 112

मल्लिका की भी यही हालत है। जीवन भर उसके मन में केवल कालिदास ही भरा रहता था। पर ज़िन्दगी के उत्तरार्द्ध तक आते आते उसकी आस्था शिथिल हो जाती है। अन्त में वापस आये कालिदास के "अथ से आरम्भ करने" का प्रस्ताव उसके मन में प्रकाश की किरणें बिखेरता है। "तुम कह रहे थे कि तुम फिर अथ से आरंभ करना चाहते हो।"[1] विवशताओं एवं मजबूरियों के बावजूद कालिदास के साथ सम्बन्ध को बनाए रखने की कामना मल्लिका में जगमगाती है। लेकिन दूसरे ही क्षण में मल्लिका उसकी असंभाव्यता से अभिभूत हो जाती है। सारी आशाओं के निरर्थक होने की इस स्थिति में मल्लिका एक ऐसी इकाई बनकर रह जाती है जो आगे किसी भी परिस्थिति से कुछ न पा सकेगी।

टूटन के एक लंबे सिलसिले से वे दोनों गुज़र चुके हैं। दोनों की इच्छाएं समय के साथ के द्वन्द्व में अधूरी रह जाती है। फिर भी वे कहीं आश्वस्त होने केलिए आकुलित हैं। मल्लिका अपने वर्तमान में खड़ी है। कालिदास को अनुभव होता है - होता आया है - "समय प्रतीक्षा नहीं करता" यहाँ दोनों की आत्मनिर्वासित अवस्था की तीव्रता स्पष्ट होती है।

गृहातुरता की परतों में जीवन-कामना प्रबलतर होती है। साथ ही एक निरर्थकता भी। ऐसे पात्र निरर्थकता से निरंतर जूझते रहते हैं। एक शून्यता की व्यापी हुई निस्तब्धता से वे टकराते रहते हैं। यह टकराहट अन्ततः आत्म-निर्वासन के कगार पर उन्हें छोड़ देती है। मातुल और विलोम जैसे पात्र (आषाढ़ का एक दिन) ऐसी स्थिति के शिकंजे में पड़े मिलते हैं। अतः अपना घर मातुल को पराया बन जाता है, "मैं तो अब घर के रहते बेघर हो रहा हूँ।"[2]

---

1. आषाढ़ का एक दिन - पृ. 112
2. वही - पृ. 95

मल्लिका के साथ विवाह करने के बाद भी उसके घर का द्वार विलोम केलिए बंद रहता है। वह यथार्थ के कठोर थपेड़ों से आहत व्यक्ति है। उसका मन, शरीर, व्यवहार सब कठोर हैं। ज़िन्दगी भर की सारी विसंगतियों को झेलते हुए वह अब उन्मत्त-सा बन गया है। यहीं विलोम की आत्मनिर्वासित स्थिति स्पष्ट हो जाती है। अम्बिका, मातुल और विलोम तीनों ही ज़िन्दगी के विभिन्न मोड़ों पर से गुज़रते हुए आहत रह जाते हैं। उनमें और प्रयत्न की शक्ति नहीं।

नन्द की कामना दो विरुद्ध कूलों से टकराती है। एक तरफ पार्थिव सौन्दर्य की व्यापकता तथा गहराई है - सुन्दरी का रूप-यौवन, जिससे वह अपने को काट नहीं सकता। दूसरी तरफ अपार्थिव जीवन-बोध,बुद्ध का महामौन, जिससे वह आन्तरिक स्तर पर जुड़ा हुआ है। नन्द की विडम्बना यह है कि वह किससे बँधा हुआ है, यह वह पहचानता नहीं। दोनों से वह अपने को बिछुड़ा पाता है। अपार्थिव की प्रबलता के सामने पार्थिव की कामना जाग उठती है।[1] पार्थिवता या भौतिकता के सामने अपार्थिवता की नींव डाँवाडोल होने लगती[2] नन्द की आत्मनिर्वासित अवस्था इसी की उपज है।

"अँधेरे बन्द कमरे" का मधुसूदन अपनी अस्मिता की तलाश में भटकते भटकते अंत में उस ग्रामीण वातावरण की ओर चला जाता है जहाँ शहर की हलचल और भाग-दौड़ नहीं। शहरी वातावरण में वह अपने को असुरक्षित और संत्रस्त पाता है। सुषमा का भटकना भी व्यर्थ निकलता है। नई ज़िन्दगी शुरू करने की व्यग्रता उसकी गृहातुरता है। मधुसूदन से जुड़ने की इच्छा है। पर वह इच्छा अपने अंकुर में ही जल जाती है। इस प्रकार "अँधेरे-बन्द कमरे" के सारे पात्र अपने अपने कमरे में बन्द दिखाई पड़ते हैं। बाहर आने की हर कोशिश उन्हें और अधिक अँधेरे में ढाल देती है।

---

1. लहरों के राजहंस - पृ.114
2. वही - पृ.138-139

'फौलाद का आकाश' की मीरा और रवि में टूटन का कारण आपसी नासमझी है । फलत: मीरा निर्वासित जीवन बिता रही है । वह कहती है, "अंतरंग से अंतरंग क्षणों में भी अपने को रवि से अलग बिल्कुल अलग पाती थी[1] ।" असन्तुष्ट जीवन बिताने तथा माँ बनने की आकांक्षा मीरा को नष्ट कर जाती है ।

'सुहागिनें' की मनोरमा अपनी जिन्दगी को फालतू महसूस करती है । अपने पति के साथ स्वस्थ तथा सानंद कौटुम्बिक जीवन बिताने की उसकी इच्छा निरंतर टूटती रहती है । पत्नी की इच्छाओं और अभिलाषाओं को भूलकर जीवन बिताने वाले, पति रवि [फौलाद का आकाश] और 'सुहागिनें' कहानी के सुशील में समानता है । दोनों अपनी पत्नियों की अभिलाषा पर ध्यान दिए बिना स्वेच्छानुसार जीवन बिताते हैं । इस तरह वैवाहिक जीवन निरर्थक होने पर मनोरमा अपने को अकेली पाती है ।

नीरू केलिए अपना घर ग्लास टैंक जैसा है । घर के संत्रासग्रस्त वातावरण से वह बचना चाहती है । घर आये मेहमान सुभाष से बहुत कुछ कहना चाहती है । उसकेलिए वह मौका ढूँढती है, पर नहीं मिलता, "मैं चाह रही थी कि कोई और भी उससे कहे कि वह एक दिन और रुक जाय[2] ।" ग्लास टैंक की मछली के समान अपने ही घर में तनावग्रस्त रहनेवाली नारी नीरू आत्मनिर्वासित है ।

असुरक्षा का बोध व्यक्ति को सुरक्षा केलिए संघर्षरत बनाता है । मिस पाल का असुरक्षा बोध उसे अपने से और दफ्तर के अपने सहकर्मियों से संघर्ष करने केलिए प्रेरित करता है । "देखो, मैं तुम से सच कह रही हूँ रणजीत, मुझे वहाँ उन लोगों के बीच एक एक पल काटना कठिन लगा करता था ।

1· मोहन राकेश - फौलाद का आकाश - पृ·76

2· मोहन राकेश - रोयें रेशे [सं·] - पृ·45

मुझे तो लगता था जैसे नरक में रहती हूँ । तुम्हें पता ही है कि मैं दफ़्तर में किसी से बात करना भी पसन्द नहीं करती थी ।"[1] पर मिस पाल भी उस स्थिति में पहुँचती है जहाँ अन्य पात्र पहुँच चुके हैं । "मैं सोचती हूँ रणजीत कि मेरे जीने का कोई भी अर्थ है ?"[2] अंत में निरर्थकता उसके जीवन का सत्य बनती है । इस स्थिति से बचने की उसकी छटपटाहट उसे आत्मनिर्वासन की अवांछित स्थिति की ओर ढकेल देती है ।

संबन्धों का विघटन और परिवेश की प्रतिकूलता व्यक्ति की अस्मिता केलिए घातक हैं । घातक स्थिति में व्यक्ति अपने को बेसहारा पाता है । पर उसमें जीने की चाह तब भी बनी रहती है । यही व्यक्ति के जीवन की मूल प्रेरणा है । महेन्द्र और सावित्री का पारिवारिक जीवन एक ऐसे बिन्दु पर पहुँचता है जहाँ विघटन अनिवार्य है । पर दोनों हमेशा केलिए बिछुड़ नहीं जाते । वे नई ज़िन्दगी केलिए अपने अपने मार्ग तलाशते हैं । पर अंत में पराजित होकर उसी वातावरण को स्वीकार करने केलिए विवश बन जाते हैं जिससे वे असन्तुष्ट हो चुके थे । यहीं उन दोनों की जिजीविषा स्पष्ट होती है ।

सम्बन्धों का विघटन और नए की खोज

महेन्द्र अधूरा पुरुष है । ज़िन्दगी केलिए पत्नी पर निर्भर रहनेवाला है । सावित्री पूर्ण पुरुष की तलाश में है । परिणामतः उन दोनों के बीच की वह डोरी टूट जाती है जो उन्हें परस्पर बाँधती रही । फलतः आपस में झगड़ा और दुत्कार शुरू होता है, "हर वक्त दुत्कार, हर वक्त की कोंच, बस यही कमाई है यहाँ मेरी इतने सालों की ?"[3] इस परिस्थिति में महेन्द्र अपने को बिलकुल नकारा हुआ पाता है वह इसी कारण घर छोड़ चला जाता है पर वापस आने की अभिशप्त स्थिति को भोगने केलिए ।

---

1. मोहन राकेश - एक और ज़िन्दगी [सं.] - पृ.73
2. वही - पृ.84
3. आधे अधूरे - पृ.38

घर के बारे में एक भव्य संकल्प सावित्री के मन में था, "एक आदमी है । घर बनाता है । क्यों बनाता है ? एक ज़रूरत पूरी करने केलिए । कौन सी ज़रूरत ? अपने अन्दर के किसी उसको ...... एक अधूरापन कह लीजिए उसे ...... उसको भर सकने की । इस तरह उसे अपने लिए अपने में पूरा होना होता है ।"[1] घर जब अपने मन के अनुकूल नहीं निकलता तब वह सारे सम्बन्धों को बन्धन समझती है । उस बन्धन के खयाल से वह पूर्णतः मुक्त होना चाहती है । इसलिए वह महेन्द्र के समान प्रस्थान करती है, जगमोहन के साथ । लेकिन दोनों पराजित हो जाते हैं । इस प्रकार असुरक्षा-बोध दोनों को भटकाता है । दोनों अपने लक्ष्य की सिद्धि में पराजित होते हैं और परिणामतः आत्मनिर्वासित भी ।

"आधे अधूरे" की बड़ी लड़की बिन्नी भी अपने अन्दर की एक मांग को पूर्ण करने की चेष्टा में मनोज के साथ भाग जाती है । विसंगति की बात यह है कि दोनों एक दूसरे को समझने और प्यार करने में असमर्थ हो जाते हैं । बिन्नी भी वापस आती है, "मैं तो इतनी बेगानी महसूस करती हूँ, अब इस घर में कि....।"[2] इस प्रकार आधे अधूरे के सभी पात्र संत्रस्त दिखाई पड़ते हैं ।

"अंधेरे बन्द कमरे" का हरबंस और नीलिमा ही नहीं मधुसूदन और सुषमा भी गृहातुर हैं । अपनी अपनी वैयक्तिक स्वतंत्रता केलिए लड़ते लड़ते पराजित तथा खिन्न होकर नीलिमा और हरबंस एक दूसरे से बिछड़ जाते हैं । पर कुछ ही क्षणों के बाद या कुछ दिनों के बाद दोनों फिर से जुड़ जाते हैं । एक बार हरबंस सारे सम्बन्धों को तोड़कर लंदन चला जाता है । वैसे ही नीलिमा हरबंस से बिछुड़कर एक वर्मी कलाकार उ बा नु के साथ पेरिस में रह जाती है । इस सब के बावजूद वे हमेशा केलिए अलग नहीं रह पाते । वे दोनों फिर से

---

1. आधे अधूरे - पृ.85
2. वही - पृ.59

गृहातुरता के कारण जुड़ जाते हैं। एक घर में आरक्षित होने केलिए दोनों आतुर हैं। इसलिए विघटित सम्बन्धों को सहते हुए भी साथ रहने केलिए दोनों विवश बन जाते हैं। पर विघटन की त्रासदी दुहराती है। फलतः हरबंस और नीलिमा दोनों अपने घर में अलग अलग इकाई बन कर रह जाते हैं।

"एक और ज़िन्दगी" के प्रकाश में आत्मनिर्वासन की समस्या गृहातुरता के रूप में परिणत होती है। सब से पहले वह अपनी पत्नी बीना से अलग हो जाता है, फिर अपने पुत्र पलाश से। दुबारा इन दोनों की मुलाकात के समय प्रकाश के मन में ही ऐसी गृहातुरता विकसती है। बीना तब भी निडर से अडिग है। अपने आत्मनिर्वासित स्थिति से बचने के हेतु वह पलाश को एक माध्यम बनाना चाहता है। पर बीना का निषेधात्मक उत्तर उसे और भी अकेला बना छोड़ता है। गृहातुर प्रकाश एक और ज़िन्दगी केलिए लालायित है। अतः वह ज़िन्दगी में नये प्रयोग करने का विचार करता है, "तो क्यों आदमी एक प्रयोग की असफलता को ज़िन्दगी की असफलता मान में[1] ?"

गृहातुरता के कारण ही व्यक्ति को अपनी विघटित ज़िन्दगी मजबूरन ढोनी पड़ती है। "अपरिचित" की "स्त्री" और "मैं" इसी विवशता से ग्रस्त हैं। जिजीविषा के कारण दोनों अपनी अपनी विघटित ज़िन्दगी को ढोते रहते हैं। स्त्री और मैं दोनों अपने अपने माहौल में कटे हुए याने आत्मनिर्वासित हैं।

पत्नी से तिरस्कृत हेरी विल्सन के प्रयाण में भी गृहातुरता है। "चौगान" का हेरी विल्सन एक अनजान प्रदेश में नई ज़िन्दगी शुरू करता है। असफलता और विघटन से बचने केलिए वह अपनी ज़िन्दगी में प्रयोग करता है। प्रकाश (एक और ज़िन्दगी) के समान हेरी विल्सन भी एक और प्रयोग करता है[2]।

1· मोहन राकेश – एक और ज़िन्दगी (सं·) पृ·166

2· रोयें रेश (सं·) एक और ज़िन्दगी पृ· 95

पर पराजित हो जाता है । एक विघटन, उसके बाद और एक प्रयोग फिर विघटन यही ज़िन्दगी की गति निकलती है । इसी को भोगने केलिए वह विवश रह जाता है ।

'आर्द्रा' की माँ अपने बड़े बेटे लाली के घर आती है । उस आलीशान मकान में जल्दी ही वह एक मेहमान बन जाती है । बेटे के घर में मेहमान बन जाने की स्थिति में वह अपने को एक अवांछित या अयाचित व्यक्ति महसूस करती है । वह वहाँ से वापस जाती है । जाते समय वह बेटे की पत्नी कुसुम से कहती है, "तुम लाली की तबीयत का पता लेती रहना ..... रात को उसे देर देर तक मत पढ़ने देना और उससे कहना कि दूसरे तीसरे दिन सिर में बादाम रोगन ज़रूर लगवा लिया करे ।"[1]

मन ही मन दुःख को सहते हुए वह माँ अपने बड़े बेटे बिन्नी के पास पहुँच जाती है । माँ के मन में पुत्र के प्रति असीम प्यार है । बिन्नी नौकर-चाकरों के बीच यंत्रवत् जीवन बिता रहा है । दूसरी ओर छोटा बेटा अभावग्रस्त जीवन बिता रहा है । लेकिन वहाँ प्यार है, स्वच्छन्दता है । इसलिए माँ बड़े बेटे का घर छोड़कर छोटे बेटे के पास पहुँच जाती है । अभावग्रस्त होने पर भी स्वस्थ जीवन बिताना ही उसके लिए काम्य है । अपने बेटों के बीच की खाई माता के मन में अकेलापन की भावना भर देती है ।

---

1. मोहन राकेश - रोयें रेशे [सं.] - पृ.27

कला मात्र संप्रेषण की सर्वोत्तम उपाधि है[1]। व्यक्ति-व्यक्ति के बीच का हार्दिक सम्बन्ध संप्रेषण पर आधृत है। भाव-संप्रेषण के अभाव में व्यक्ति-व्यक्ति के बीच का फ़ासला" बढ़ता है। इसलिए मनुष्य के बीच एक ऐसा संप्रेषण आवश्यक है जिससे वह एक दूसरे को पहचान सके, समझ सके।

संप्रेषणहीनता

आधुनिक सन्दर्भ में व्यक्ति व्यक्ति के बीच जो फ़ासला दिखाई पड़ता है वह इस संप्रेषण हीनता का परिणाम है। आत्मिक संबन्ध के अभाव में व्यक्ति अपने लिए तथा अन्यों के लिए अजनबी बन जाता है।

मनुष्य मूलत: अकेला है। पर वह अकेलेपन से डरता है। उसकी सामाजिकता के मूल में अकेलेपन के निवारण की चेष्टा निहित है। वह दूसरों से हिलने-मिलने, बातचीत करने में इसलिए दिलचस्पी लेता है कि वह संप्रेषण चाहता है। संप्रेषणहीन मनुष्य के मन में शैतानी प्रवृत्ति बढ़ती है। कोई भी मनुष्य संप्रेषणहीन स्थिति को तथा अपने अकेले होने की स्थिति को भोगना नहीं चाहता। आत्मनिर्वासन मनुष्य की अनिवार्य नियति होने पर भी वह उससे बचना ही चाहता है।

राकेश के सम्पूर्ण साहित्य में जीवन की विसंगति से लड़ते लड़ते अपने "स्व" की तलाश करनेवाले पात्र ही सर्वत्र दिखाई पड़ते हैं। ये पात्र कहीं भी पहुँचते नहीं। उन्हें हर कहीं अंधकार ही अंधकार दिखाई पड़ता है। परिणामत: वे संप्रेषणहीनता और आत्मनिर्वासन के शिकार बने रहते हैं।

"पैर तले की ज़मीन" के सभी पात्र अपने अपने अकेले निरर्थक जीवन से संत्रस्त होकर एक ही स्थान में - टूरिस्ट क्लब आफ इण्डिया में - आ पहुँचते हैं। अयूब, झुनझुनवाला, पंडित, रीता, अब्दुल्ला, नियामत सब अपने अपने अलग इतिहास लिए हुए भटकनेवाले पात्र हैं। हर पात्र किसी न किसी संबन्ध के टूटने से संत्रस्त है, बेहद पीड़ित है।

---

1. I.A. Richards - Principles of Literary criticism, p.26

अयूब की पत्नी सलमा से एक तीसरे आदमी का सम्बन्ध उनके स्वस्थ वैवाहिक जीवन को विघटित कर देता है, 'नहीं कुछ रिश्ते खराब है मेरे और मेरी बीवी के ..... हमें कुछ गहरी बातें डाक्टर से करनी थीं । डाक्टर मेरी बीवी का बचपन का दोस्त है ..... अब समझे कुछ तुम ?'[1] जीवन को सुगठित तथा स्वस्थ बनाने केलिए आन्तरिक सम्बन्धों में दृढ़ता आवश्यक है । जब अवांछित घटनाएं घटती हैं यह दृढ़ता शिथिल हो जाती है । अयूब को अपनी पत्नी इसीलिए अभिशाप बन जाती है । पारिवारिक जीवन की टूटन से उनका वैयक्तिक जीवन कुंठा, ऊब और निराशा से भर जाता है । अयूब पियक्कड़ बन जाता है । वह वैयक्तिक सम्बन्ध को निरर्थक पाता है, अपने को नितांत अकेला भी । 'हर व्यक्ति अलग अलग वक्त और अलग अलग जगह पर अलग अलग आदमी होता है । किसी एक वक्त और किसी एक जगह पर वह कौन है, क्या यह आसानी से बता सकता है ?'[2] इस सम्बन्धहीन स्थिति में अयूब स्वयं जर्जरित हो रहा है । वह स्वयं समझ नहीं पाता कि वह क्या चाहता है, और क्या करता है । उस भीड़ में उसे अपना कोई नहीं दिखाई पड़ता । अयूब पागल सा व्यवहार करने लगता है[3] ।

क्या करे ? क्या न करे ? इस दुविधा में अयूब की संकटकालीन स्थिति स्पष्ट होती है 'फिर वही उतरती हुई रात और वही आवाजें - झींगुरों झिल्लिय और मेंढकों की । वही एक आलम सी दहशत, वही अकेलापन और वह अपने आप सामना । ...... क्या चाहता हूँ ? इसी तरह यहाँ अकेले खड़े रहना ? बाहर की तरफ देखते जाना ? कुछ समझ में नहीं आता । कुछ समझ में नहीं आता कि क्या चाहता हूँ - खास तौर से जब रात उतरती है, ये आवाजें सुनायी देती हैं, तो क्यों इतना छटपटाने लगता है ?'[4]

---

1. पैर तले की ज़मीन - पृ.41
2. वही - पृ.55
3. वही - पृ.58-59
4. वही - पृ.58.59

अयूब छटपटाता है । अँधेरे में टटोलता है । सम्प्रेषणहीनता की कराह उसके हर शब्द से सुनाई पड़ती है । वह अपने जीवन की हर घटना को एक निरर्थक आवर्तन समझता है । आवर्तन के दमघोंटू वातावरण में वह अपनी ज़िन्दगी से कट जाता है - "ये परसों शाम को सुनी हुई आवाज़ें थीं और परसों शाम को ही नहीं, उससे पहले हर शाम को सुनी हुई आवाज़ें जिन्होंने यह सोचने केलिए मुझे मजबूर कर दिया था कि जो ज़िन्दगी मैं जी रहा हूँ, वह मेरी ज़िन्दगी नहीं है - मैं चाहे जितने साल उसे ढोता रहा हूँ, फिर भी कभी उसे अपना नहीं सकूँगा[1] ।

अयूब की विसंगति यह है कि वह जो ज़िन्दगी जी रही है वह उसका अपना नहीं । फिर भी उसे ढोने केलिए अभिशप्त भी । अयूब की पत्नी है । उसका अपना घर है और बच्चे हैं । पर सब नहीं के बराबर हो चुके हैं। पत्नी के सम्बन्ध में उसकी धारणा अच्छी नहीं है । उसकेलिए हर स्त्री कब्रिस्तान है । अयूब अनैतिक जीवन बिताता है । वह अपनी पत्नी से कहता है, "वह बड़ी लड़की रीता । वह भी तुम्हारी ही तरह एक कब्रिस्तान बन रही है ...... क्योंकि उसका भोलापन उसकी इमोशंस भी मर चुकी है .... जिसके बाद आदमी औरत के भीतर सब कुछ दफ़न होता जाता है ..... कुछ भी भीतर से नहीं फूटता[2] ।" स्पष्ट है अयूब और सलमा के जीवन में दरारें पड़ चुकी हैं । परिणामतः एक दूसरे से कट जाता है । फिर भी अयूब अब भी एक ऐसा सम्बन्ध चाहता है जिससे उसके मन की घुटन मिट सके, "मुझे एक औरत चाहिए । औरत जो मौत के खतरे के बावजूद मेरा ...... साथ दे सके । समझे[3] ।"

अयूब की तलाश अपने बेचैन मन की शान्ति की तलाश है । संत्रासग्रस्त मन की बातों को किसी आत्मीय व्यक्ति से कह कर तसल्ली पाने की इच्छा है । सम्प्रेषण की यह तड़प उसे आत्मनिर्वासित कर देती है ।

---

1. पैर तले की ज़मीन - पृ.59
2. वही - पृ.88
3. वही - पृ.81

पारिवारिक जीवन की मूल भित्ति परस्पर विश्वास और प्रेम है। "ईमानदारी और सत्य ही प्रेम और परिवार की मूल भित्ति है। जब उसका प्रत्येक सदस्य इस चीज़ को सही ढंग से नहीं समझ लेता, शान्ति सम्भव नहीं।"[1] जब यह सम्बन्ध टूट जाता है तब पारिवारिक जीवन नरक तुल्य बन जाता है। आपसी नासमझी पति-पत्नी को एक ऐसी भीषण स्थिति पर पहुंचा देती है जहाँ वे एक दूसरे से कोसों दूर पड़ जाते हैं। "अंधेरे बन्द कमरे" का हरबंस और नीलिमा इसके लिए एक अच्छा मिसाल है। वह कहती है, "हमारा ब्याह हुए तीन साल हो गए, मगर मैं तुम्हें आज तक नहीं समझ सकी।"[2] हरबंस की भी शिकायत यही है, "तुम कभी मुझे समझ भी नहीं सकोगी।"[3]

वैवाहिक जीवन की टूटन हरबंस के मन में अस्थिरता पैदा करती है, "एक अजीब सी बेबसी महसूस होती है। जैसे मैं एक कवच में जकड़ा हुआ हूँ जो मेरे लाख कोशिश करने पर भी टूट नहीं पाता।"[4] असह्य अस्थिरता की पीड़ा से संत्रस्त हरबंस स्वस्थता की तलाश करता है। लंदन की ओर उसके प्रस्थान के मूल में इस सह-जीवन की यंत्रणा से मुक्त होने की छटपटाहट है। पर अधिक दिन वह अकेला रह नहीं पाता। वह अपनी व्यथा किसी से कहना चाहता है। अपनी टूटी हुई ज़िन्दगी को ठीक करना चाहता है। अतः वह नीलिमा को यों पत्र लिखता है, "मैं जब केबिन में दो दिन अकेला पड़ा था, तो मेरा बार बार मन होता था कि कोई इस यात्रा में मेरे साथ आया होता, कोई भी, जो मुझे जानता, जिसके साथ मैं पुराने दिनों की बातें कर सकता और जो समुद्र के गर्भ के पाताल में भी मेरे साथ होता। मगर मैं अकेला आया हूँ और मुझे अकेले ही रहना है।"[5]

---

1. शिवप्रसाद सिंह - आधुनिक परिवेश और नवलेखन - पृ.41
2. अंधेरे बन्द कमरे - पृ.84
3. वही - पृ.89
4. वही - पृ.87
5. वही - पृ.87

हरबंस की पीड़ा सम्बन्ध हीनता की है। पत्नी के साथ उसका सम्बन्ध मिट चुका है उससे अलग रहने पर भी वह अलग हो नहीं पाता। अपने लिए वह कोई सहारा चाहता है, अकेलापन से डरता है, "एक तरफ देखता हूँ तो हम लोगों की सहजीवन की यंत्रणा और प्रताड़ना नज़र आती है और दूसरी तरफ यह निगलता हुआ सूनापन है - भीड़ से भरी हुई दुनिया के बीच अपना अकेलापन[1]।"

अकेलापन मिटाने के प्रयत्न में वह प्रस्थान करता है। पर उसका अकेलाप घटने के बदले बढ़ने लगता है। पत्नी से बिछुड़कर, एक सच्चे मित्र की चाह करने वाला हरबंस सम्बन्धहीनता की भीषण स्थिति का शिकार है, "एक भी ऐसा व्यक्ति मुझे नहीं मिला जिसे मैं अपना सच्चा मित्र कह सकूँ[2]।" कहीं सच्चा मित्र न मिल पाने के कारण वह पुनः नीलिमा की ओर मुड़ जाता है, "यदि तुम सचमुच ही मेरी सच्ची मित्र बन सको, जो कि तुम जितनी हो कि तुम हो, तो हमारे बीच किसी तरह की कोई रेखा नहीं रहेगी[3]।"

नीलिमा भी सच्चे मित्र की तलाश करती है, "मैं बहुत चाहती हूँ कि मेरा कोई ऐसा मित्र हो जिससे मैं अपने मन की सब बातें कह सकूँ[4]।" पति से अलग होकर मित्र की खोज करनेवाली नीलिमा में सम्बन्ध की समस्या प्रबल दिखाई पड़ती है।

यहाँ एक बात स्पष्ट है कि हरबंस और नीलिमा दोनों अपने लिए मित्र ढूँढ रहे हैं। पति-पत्नी एक दूसरे को छोड़कर अन्य मित्र की तलाश इसलिए करते हैं कि उनमें वह सम्बन्ध नहीं रह गया जो पति-पत्नी के बीच होना चाहिए।

---

1. अँधेरे बन्द कमरे - पृ.146
2. वही - पृ.155
3. वही - पृ.155
4. वही - पृ.308

हार्दिक संवाद और संपर्कहीनता की स्थिति सम्प्रेषणहीनता ही है। हरबंस और नीलिमा इसके शिकार बन चुके हैं।

सम्प्रेषण के सम्बन्ध में हरबंस का अपना दृष्टिकोण है। प्रेम और मित्रता के बल पर ही हार्दिक सम्प्रेषण संभव है वरना संबन्ध अभिशाप बन जाता है। "मेरे लिए प्रेम दो आत्माओं के एक दूसरे को समृद्ध बनाने के अनवरत संघर्ष का नाम है, कभी न रुकनेवाले संघर्ष का। दो आत्माओं के सहयोग में ही उसकी पूर्ति नहीं है, उस स्थिति में उनमें एक जड़ता आ सकती है, एक सडाँध पैदा हो सकती है। उसमें तो दोनों का निरंतर विकास आवश्यक है जिसकेलिए उनके सामने एक ही विज़न होना चाहिए।[1]" हरबंस जिस प्रेम पूर्ण व्यवहार की कामना करता है, वह उसे नीलिमा से नहीं मिला और दोनों का विज़न भी एक न होकर परस्पर भिन्न बन गया।

नीलिमा जानती है कि हरबंस की कामना की पूर्ति उससे नहीं होगी। उसकी मानसिकता हरबंस से भिन्न है। वह अपनी तरफ स्वतंत्र रहना चाहती है। "तुम्हें मेरे अन्दर वह स्त्री नहीं मिल सकी जिसे तुम मन से प्यार कर सको। इसलि तुम्हारा मन बहुत भटकता है। चाहे तुम किसी और न चाहते होओ, मगर कुछ और ज़रूर चाहते हो, वह कुछ जो तुम्हें मेरे अन्दर कहीं नहीं मिलता।[2]" विपरीत मानसिकता वाले पति-पत्नी के बीच का संघर्ष दोनों में सम्प्रेषणहीनता उत्पन्न करता है।

---

1. अँधेरे बन्द कमरे - पृ.155
2. वही - पृ.243

हरबंस की दृष्टि में प्रेम वह हार्दिक संबन्ध है जहाँ व्यक्ति का अलग व्यक्तित्व ही नहीं रहता । उसमें दो व्यक्ति एकाकार हो जाते हैं । घर, बच्चे, सगे-सम्बन्धी, समाजिक स्तर ये सब गौण बातें हैं । जहाँ प्रेम की रीढ़ न हो वहाँ इनकी बात केवल एक झूठा बोझ है, एक ढकोसला है[1] ।" पर हरबंस को यह हार्दिक सम्बन्ध नहीं मिलता । उसका मन नीलिमा केलिए आतुर है । प्रेमहीन स्थिति में वह स्वयं आत्मनिर्वासित रह जाता है ।

नीलिमा भी शारीरिक संबन्ध की अपेक्षा मानसिक एकता को प्रधानता देती है । "विवाहित जीवन में दो व्यक्तियों का शारीरिक संबन्ध ही कुछ नहीं होता, और मैं जानती हूँ कि मैं उस केलिए एक शारीरिक साधन से ज़्यादा कुछ नहीं हूँ । हम लोग पति पत्नी हैं, परन्तु पति पत्नी में जो चीज़ होती है, जो चीज़ होनी चाहिए वह हम में कब की समाप्त हो चुकी है[2] ।"

यह बात तो स्पष्ट हैकि पारिवारिक जीवन में उन्हें वह एकता नहीं मिलती जिसे वे दोनों मूल्यवान समझते हैं । इस का कारण है दोनों के बीच हार्दिक सम्बन्ध का अभाव । एक दूसरे को समझने, सहने और प्यार करने की असमर्थता से उद्भूत अजनबी स्थिति उन्हें अलग कर देती है ।

पति-पत्नी जब अजनबी बन जाते हैं तब दोनों अपनेलिए और रास्ता खोजते हैं । नीलिमा केलिए तड़पनेवाले मन की यही प्रतिक्रिया है । हरबंस को अपनी पत्नी से प्यार नहीं मिला । इसलिए वह आत्मिक संबन्धवाले एक ऐसे मित्र की तलाश करता है जिससे उसका मानसिक तनाव कम हो सके, "मैं किसी की ऐसी

---

1. अँधेरे बन्द कमरे - पृ.155
2. वही - पृ.505

ही तो मित्रता चाहता हूँ जो मेरी सब आशाओं और निराशाओं को इच्छाओं और आकांक्षाओं को उत्साह और चाव के साथ बाँट ले। मैं यही तो चाहता हूँ कि मेरे व्यक्तित्व के साथ किसी का अस्तित्व मिल कर दो परमाणुओं की तरह एकाकार हो जाए।[1]"

घनिष्ठ मित्र की जरूरत नीलिमा भी अनुभव करती है। मित्रता के सम्बन्ध में उसकी अपनी कुछ धारणाएं हैं, "मेरेलिए मित्रता का अर्थ है पारस्परिक ईमानदारी, भावनात्मक लगाव और मानसिक समदृष्टि - ये तीनों ही, इन में से कोई एक नहीं। जहाँ किसी एक का अभाव हो वहाँ शेष दोनों का अस्तित्व भी नहीं रह सकता।[2]" हरबंस और नीलिमा की मानसिकता में भावनात्मक एकता है पर व्यावहारिक क्षेत्र में यह एकता नहीं है। परिणामतः दोनों की स्थिति दो विरुद्ध ध्रुवों में हो जाती है।

मधुसूदन का कथन इनके चरित्र को और स्पष्ट करता है, "वे दोनों जैसे एक ही घेरे में दो विपरीत दिशाओं में घूमते हुए नक्षत्र थे - जो न तो उस घेरे से निकल सकते थे और नहीं अपनी दिशा बदल सकते थे। उनकेलिए साथ रहना भी अनिवार्य था और विपरीत रहना भी।[3]" इस प्रकार हरबंस और नीलिमा दोनों एक ही घर में संपर्क हीन स्थिति को भोगते हुए अलग अलग इकाई बन कर रह जाते हैं। यही उनकी अभिशप्त स्थिति है।

---

1. अँधेरे बन्द कमरे - पृ.157
2. वही - पृ.157
3. वही - पृ.285

"अंतराल" की शोभा कुमार और दोनों मरीचिका के प्यासे हैं। उनके जीवन में विघटन का एक इतिहास है। ज़िन्दगी उनकी अभिशाप बन चुकी है। कुमार पहले लता नामक लड़की के प्रेम में फँसा हुआ था। लता ने किसी और से शादी कर ली। कुमार के जीवन में यह एक विघटन का कारण बना। उसके बाद वर्षों तक वह एकांत जीवन बिताता था। फिर भी वह वैवाहिक संबन्ध में एक बार जुड़ जाता है लेकिन वहाँ पर भी वह विघटन का शिकार बनता है। शोभा के जीवन में भी कटु अनुभव अनेक हुए। उसका विवाह पहले हो चुका था। लेकिन वह पराजय था। तभी वह दर्शन पढने केलिए कुमार के पास आती है। वे एक दूसरे के बहुत निकट आते हैं। कुमार के प्रति शोभा के मन में और शोभा के प्रति कुमार के मन में एक अव्यक्त अभिलाषा का उदय होता है। पर अपनी अपनी अभिलाषा को स्पष्ट रूप देने में दोनों असमर्थ निकलते हैं। द्वन्द्व के इस कारण दोनों संत्रस्त हैं। यह संत्रास उन्हें निरर्थकता में पहुँचा देता है। उनकेलिए ज़िन्दगी मात्र एक आवर्तन है। वे सब में निरर्थकता ही पाते हैं।

निरर्थक ज़िन्दगी के रसहीन आवर्तन से असन्तुष्ट होकर कुमार कहता है, "कल सुबह भी इसी तरह एक शुरुआत हुई थी। परसों भी। हर सुबह एक नई शुरुआत की छटपटाहट लिये आती थी। नए सिरे से मन अपने को अपने मन चाहे रूप में ढालने की कल्पना करने लगता था। उस कल्पना को सार्थक करने केलिए नए सिरे से संघर्ष आरंभ होता था .... हालाँकि शाम होने तक फिर वही थकान शेष रह जाती थी - अगली सुबह आने तक की ऊब और उदासी[1]।"

---

1. मोहन राकेश - [illegible] अन्तराल - पृ.212-213

ज़िन्दगी की प्रथम पराजय से उत्पन्न व्याकुलता शोभा में एक अनिश्चितता बोध पैदा करती है । उसके सामने पूरी ज़िन्दगी अनिश्चित और विस्तृत पड़ी है । वह किसी रास्ते को अपनाने में असमर्थ है । पराजित जीवन के तीखे अनुभव उसे और एक प्रयोग केलिए असमर्थ बनाते हैं । फिर भी उसके अन्तर्मन में अभिष्ठता की चाह है । यह चाह उसकी जिजीविषा को दीपित करती है । 'एक अजीब सी छटपटाहट । बिना अपने को किसी के सामने उँडेले यह छटपटाहट शांत नहीं होगी । पर क्या कोई ऐसा व्यक्ति है जो बिना अपने किसी स्वार्थ के केवल मेरी बात सुनने केलिए ही मेरी बात सुन ? सुनने का धीरज रखे या उसकेलिए अपना समय देने का मूल्य मुझ से न चाहे ?'[1] स्पष्ट है शोभा आत्मीय संबन्ध चाहती है । इसके अभाव में वह मिट्टी में पड़ी मछली के समान तड़प रही है ।

शोभा के सामने अब एकमात्र आश्रय कुमार है । वह कुमार के साथ मिलकर एक नामहीन संबन्ध स्थापित करना चाहती है । यह अदम्य अभिलाषा ही उसे कुमार के पास ले आती है । वह कुमार से कहती है, 'इस बार भी यहाँ से चली थी, तो शायद यही सब से बड़ा प्रलोभन मन में था कि तुम यहाँ हो । सब छोड़ छोड़कर यहाँ आ रहने की सोचना ...... लगता है इसके मूल में यही प्रलोभन था ।'[2] उन दोनों के संबंध में एक प्रकार की अव्याख्येयता है । उनके संबन्ध वह नामहीन संबंध है । पर उसी संबंध से शोभा सब कुछ पाना चाहती है । तुमने एक बार कहा था कि सम्बन्धों को दिए गए सब नाम केवल सुविधा केलिए है... वास्तविक सम्बन्ध इतने सूक्ष्म होते हैं, और व्यक्ति व्यक्ति के साथ इतने अलग कि उन्हें नाम दिए ही नहीं जा सकते । मैं तुम्हारे और अपने सम्बन्ध को बिना नाम दिए उसमें से सब कुछ पा लेना चाहती हूँ ।'[3]

---

[1] अंतराल - पृ.102

[2] वही - पृ.215

[3] वही - पृ.215

राकेश के सभी पात्र नामहीन संबन्ध की तलाश में भटकनेवाले हैं । हरबंस, मनोज, मधुसूदन ये सब नामहीन संबन्ध की तलाश में भटकते हैं । शोभा और कुमार के संबन्धों का विघटन होता है । फलत: वे संत्रास, असंतोष और तनाव से आत्मनिर्वासित बन जाते हैं । वे भी तलाश करते हैं नामहीन संबंधों की। पर उनकी तलाश की तह में आत्मनिर्वासित स्थिति की तीक्ष्ण पीड़ा है ।

केवल सुख-सुविधाओं से मनुष्य का जीवन सार्थक नहीं होता । अपनी अस्मिता और स्वतंत्रता को मनुष्य प्रमुखता देता है । वह ज़िन्दगी की अर्थवत्ता अस्मिता में खोजता है । यह खोज उसे निरर्थकता के कगार पर पहुँचा देती है ।

निरर्थकता-बोध

राकेश के प्राय: सभी पात्र ज़िन्दगी की तेज़ रफ़्तार में कुछ पाने के प्रयत्न में पराजित होते हैं । वे अपने को, अपनी ज़िन्दगी को निरर्थक पानेवाले हैं । "पैर तले की ज़मीन" का धुनधुनवाला सभी सुविधाओं से घिरे रहने पर भी अपनी ज़िन्दगी को निरर्थक ही पाता है, "एक बाढ़ ...... एक तूफ़ान और आदमी का किया धरा सब बेकार हो जाता है ।[1]" मनुष्य-हृदय के अतिरिक्त सब कुछ वह खरीद सका । पर घनिष्ठता और प्यार नहीं । अत: उसका कोई मित्र नहीं, कोई अपना नहीं ।

मनुष्य में शून्यता सहज ही वर्तमान है वह मात्र धन-संपत्ति से मिटती नहीं । उसकेलिए आत्मिक संतृप्ति आवश्यक है, "मैं सब से बड़ा मछली मार था जिसके कारखाने में बड़ी से बड़ी मछलियाँ डिब्बों में बन्द की जाती थीं । बड़ी से बड़ी ह्वेल मछली केलिए मैं ने चारा ईजाद किया ...... पर आज इस वक्त मैं देख रहा हूँ कि मैं खुद भी एक मछली हूँ । पानी में तैरती मछली नहीं अपने ही जाल में फँसकर तड़पती अपने ही डिब्बे में बन्द ।[2]"

1· पैर तले की ज़मीन - पृ·92

2· वही - पृ·108

झुनझुनवाला का अभिमान यहाँ पराजित हो जाता है । वह समझ लेता है कि धन के बल अन्तर्मन की [illegible] असंभव है । जीवन के अंतिम क्षणों में ही वह समझ लेता है कि वह जो ज़िन्दगी जी रहा है, निरर्थक है । यहाँ वह आत्मनिर्वासित रह जाता है ।

पण्डित का भी अपना परिवार है, पत्नी है, घर है । पर उसकी पत्नी की तस्वीर दूसरों के बटुओं में बन्द है । अयूब के समान पण्डित केलिए भी अपनी पत्नी कब्रिस्तान हो चुकी है । पर अभिशाप की बात यह है कि वह उस अवांछित स्थिति से चिपके रहने केलिए विवश है । वास्तव में अब वह नपुंसक जीवन बिता रहा है[1] । दूसरों के समान जीने केलिए ही उसने झुनझुनवाला का आश्रय स्वीकार किया था । पर साथ ही साथ वह उन परिस्थितियों से भाग जाना भी चाहता है । 'आधे अधूरे' के महेन्द्र के समान पण्डित को भी उस विघटित परिस्थिति के साथ नारकीय समझौता करना पड़ता है, "कुछ था जिससे मैं हर वक्त भागना चाहता था ..... और इस बार इस झुनझुन के साथ यहाँ आया था, तो भी भागकर ..... इसीसे भागकर इसी के साथ[2] ।"

हर कहीं बेमानी है । कोई भी किसी पर विश्वास नहीं करता । सब अपने अपने बन्द कमरे में है । इन्सानियत मर चुका है । "बेमानी ...... यह शब्द कितना बेमानी है .....[3] ।" परिवेश से, पत्नी से और दोस्तों से भी कटा हुआ पण्डित सब कुछ निरर्थक पाता है । झुनझुनवाला, पण्डित, अयूब सब मृत्यु के सामने खड़े होकर अपना आत्म-मंथन करते हैं । अपने जीवन को निरर्थक तथा अपने को अकेले पाते हैं ।

---

1. पैर तले की ज़मीन - पृ. 108
2. वही - पृ.106
3. वही - पृ.109

मृत्यु के सामने खड़े होकर अपने नवजात शिशु को एक बार देखने और अपने साहब के पास हिसाब पहुँचाने[1] की इच्छा प्रकट करने वाला अब्दुल्ला, और अपनी बूढ़ी माँ की देखभाल करने तथा बक्स की चाबी लोकनाथ को देने[2] केलिए चिन्तित खड़ा नियामत दोनों अपनी भोगी हुई ज़िन्दगी को निरर्थक पाते हैं ।

मीरा में यह निरर्थकता बोध डर का रूप धारण कर लेता है । वह सब कहीं भयानक दृश्य ही देखती है, "हर चीज़ से, अँधेरे से, पानी से, तुम सब से .... मुझे तुम से भी आज डर लग रहा है, दीदी[3] ।"

जीवन की निरर्थकता से ~~[illegible]~~ "पैर तले की ज़मीन" की रीता अवगत हो चुकी है । अब वह स्वतंत्र मरना ही चाहती है, "मैं अपनी मर्ज़ी से मर सकती हूँ । मुझे आप लोगों के साथ की ज़रूरत नहीं है । और चाहूँ तो अपनी मर्ज़ी से तब तक जी सकती हूँ जब तक जी सकने की सिलसिला बाकी है[4] ।" रीता केलिए जीवन निरर्थक है । अपनी मर्ज़ी से मर कर कम से कम अपनी मृत्यु को वह सार्थक बनाना चाहती है ।

ध्यान देने की बात यह है कि इन पात्रों में किसी के साथ किसी का कोई सम्बन्ध नहीं है । हर पात्र अकेला है । मृत्यु के सामने खड़े होकर ये अपनी ज़िन्दगी की निरर्थकता पर मौन रुदन कर रहे हैं । आधुनिक मानव की नियति यह है कि उसके जीवन में वैयक्तिक सम्बन्ध नाम मात्र का रह गया है । वह अकेले रहने केलिए अभिशप्त है ।

---

1. पैर तले की ज़मीन - पृ.110
2. वही - पृ.110
3. वही - पृ. 97
4. वही - पृ.110

"अँधेरे बन्द कमरे" की प्रमुख धारा से हटकर अपने अलग अलग दायरे में रहने वाले दो पात्र हैं मधुसूदन और सुषमा । हरबंस और नीलिमा के अलगाव की शिकायतें मधुसूदन ध्यान से सुनता है । पर उसके अन्दर उसका अपना एक अपरिचित, संत्रस्त व्यक्ति है जो हमेशा मुक्ति केलिए छटपटा रहा है । महानगरीय वातावरण में वह बिलकुल अकेला है । वह सोचता है, "मेरे आसपास कई लोग आ-जा रहे थे, मगर मेरेलिए वहाँ जैसे कोई भी नहीं था ।"[1] मधुसूदन बिलकुल बेचैन है । अनिश्चय के मँझधार में वह फँस जाता है, "मेरे चारों तरफ से एक भरी पूरी छलाछल बहती हुई दुनिया गुज़र रही थी और मैं अपने अन्दर एक अभाव का एक शून्य का अनुभव कर रहा था । वह अभाव क्या था ? वह शून्य कहाँ था ?"[2] वह कुछ न समझ पाता न कुछ कर पाता । वह अपने जीवन की निरर्थकता का हरदम अनुभव करता है ।

सुषमा स्वतंत्रता-परस्त आधुनिक नारी है । वह पुरुष की अधीनता नहीं स्वीकारती । वह पुरुषों को अपने अधीन लाना चाहती है, उसका विश्वास है, "मैं पुरुषों के शासन से बचकर उन्हें अपने शासन में रख सकती हूँ ।"[3] पर अंत में वह अपनी इस मानसिकता को विफल पाती है और साथ ही अपनी ज़िन्दगी को भी । वह कहती है, "मेरी सफलता में कोई चीज़ ऐसी है जो मुझे तोड़ रही है ।"[4] सिर्फ स्वावलम्बिता से व्यक्ति पूर्ण नहीं होता । व्यक्ति को पूर्णता प्रदान करनेवाली और भी बहुत सी चीजें हैं । उनमें [illegible] यानी हार्दिक सम्बन्ध सबसे प्रमुख है । सुषमा का जीवन हार्दिक सम्बन्ध ~~सबसे प्रमुख है//x//मुख~~ से शून्य है । इसलिए वह अपने वर्तमान से बाहर आना चाहती है । वह सोच रही थी कि दो तीन साल केलिए विदेश चली जाऊँ ।"[5]

---

1. अँधेरे बन्द कमरे - पृ.117
2. वही - पृ.117
3. वही - पृ.461
4. वही - पृ.462
5. वही - पृ.462

हरबंस के समान यहाँ सुषमा भी विघटित परिवेश से भाग जाना चाहती है । इसमें उसके आहत मन की प्रतिक्रिया द्रष्टव्य है । ज़िन्दगी को नया रूप देने की उसकी त्वरा थी । अतएव मधुसूदन के सामने अपनी ज़िन्दगी के पर्तों को वह खोल रखती है, "मैं अपने लिए कुछ चाहती हूँ, कुछ जो एक छोटे से घर में ही मिल सकता है, जहाँ मैं एक छोटा सा बाग लगा सकूँ और एक-एक पौधे को सींचकर बड़ा कर सकूँ ..... ।"[1] याने उसके जीवन को अर्थवत्ता प्राप्त हो । अब वह सृजन केलिए, आत्मीयता केलिए तड़प रही है, "मुझे अब जीवन में इतना ही चाहिए कि किसी के सामने हमेशा इसी तरह बच्ची सी बनी रहूँ ।"[2] वह मधुसूदन के साथ मिलकर एक और प्रयोग करना चाहती है । पर विसंगति यह है कि वह इच्छा भी अपूर्ण रह जाती है । उसके जीवन की त्रासदी यहीं दुगुनी हो जाती है ।

इस प्रकार 'अँधेरे बन्द कमरे' का प्रत्येक पात्र निरर्थकता-बोध का शिकार है । जीवन को सार्थक बनाने के प्रयत्न में वह पराजय प्राप्त करता है । किसी न किसी यंत्रणा को भोगने केलिए सब अभिशप्त हैं ।

निरर्थकता बोध "न आनेवाला कल" के मनोज को भटकाता है । अपने मन में जीवन की विसंगति की असह्य पीड़ा को दबाते दबाते वह एक अनिश्चित अवस्था पर पहुँच जाता है । उसकी पत्नी पहले और एक पुरुष की पत्नी रह चुकी इसलिए उसे अपनी पत्नी समझने में वह वैमनस्य का अनुभव करता है । वह जिस स्कूल में काम करता है वह स्कूल पादरियों का है । वहाँ के वातावरण से वह आत्मीयता का अनुभव नहीं कर पाता । अपनी पत्नी से, नौकरी से और परिवेश से भी वह समझौता नहीं कर पाता । फिर भी उसको जीवन बिताना

---

1. अँधेरे बन्द कमरे - पृ.463
2. वही - पृ.467

चलता है। वह एक 'युद्ध विराम' में जीता है यही उसकी नियति का और एक पहलू है। मनोज कहता है, "एक दूसरे की असली पहचान हमारे अन्दर एक औपचारिकता में ढलती गई। यह ज्ञान लेने के बाद न तो हम अपनी हदें तोड़ सकते हैं और न ही एक दूसरे की हदबन्दी को पार कर सकते हैं, हमने एक युद्ध-विराम में जीना शुरू कर दिया था[1]।"

परिस्थिति से समझौता न कर पाने की स्थिति में मनोज नौकरी से इस्तीफा देता है। वह जीवन को बन्धनों से जटिल मानता है। सब बन्धनों को तोड़ फेंकना चाहता है। आवेश में आकर वह कहता है - अन्दर कहीं एक आवेश था उन सब चीज़ों को एक-एक कर ठोकर लगा कर परे हटा देने का। परन्तु उसमें कुछ करने की शक्ति नहीं है। उसका आवेश केवल वितृष्णा में परिणत होता है[2]। मनोज के आवेश और वितृष्णा की तह में जीवन के निरर्थकता-बोध के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

मिस वानी भी 'अँधेरे बन्द कमरे' की सुषमा के समान एकाकी जीव है। वह अपनी एकाकीता से बिल्कुल ऊब चुकी है। वह बेचैन है। किसी ऐसे का सामीप्य चाहती है जिसके सामने वह अपने को खोल सके। "मैं आज सुबह से ही काफी बेचैन महसूस रही थी, मैं चाहती थी कोई मुझसे देर तक बात करे - लम्बी बात। पर सारा दिन ऐसे ही छुटपुट बातों में बीत गया है। जैसे और हर एक दिन बीतता है[3]।"

1· न आने वाला कल - पृ·17

2· वही - पृ·188

3· वही - पृ·145

वाणी भी मनोज के स्कूल में ही काम करती है । स्कूल के नीरस वातावरण से वह भी असन्तुष्ट है । वहाँ किसी का किसी से कोई रिश्ता नहीं । उनका संबन्ध केवल औपचारिक है । कोई वैयक्तिक संबन्ध उनमें नहीं है । आत्मीयता के अभाव से हेडमास्टर से लेकर चपरासी तक संत्रस्त हैं । विसंगति के शिकार हैं ।

सब के मन में अपनी ज़िन्दगी की अर्थहीनता का बोध है । इस पर प्रकाश डालते हुए चन्द्रकांत बान्दिवडेकर लिखते हैं, मनुष्य-मनुष्य के बीच का स्नेह और प्रेम का सम्बन्ध कब ही छूट गया है और जीवन में कोई ऐसी धनात्मक उपलब्धि नहीं हाथ में आ रही है कि जिससे जीवन जीने योग्य माना जाए । व्यक्ति अगर अपने अन्दर झांक कर देखता है तो उसे खालीपन ही दिखाई दे रहा है जिसको खोल पूरने का सार्थक साधन मनुष्य के पास नहीं रह गया है[1] ।" यह कथन इस उपन्यास के हर पात्र के सन्दर्भ में सार्थक है ।

हमने देखा कि राकेश के सभी पात्र अनिवार्य रूप से आत्मनिर्वासित हैं । कहीं वे परिवेश से, कहीं परिवार से, कहीं अपने आप से कटे हुए पाये जाते हैं । सब अपने जीवन में पराजित हैं । यह पराजय ही उन्हें अपनी सार्थकता पर विचार करने को विवश बनाती है । वे अनुभव करते हैं कि उनका जीवन निरर्थक और विशृंखलित है । इस कठोर वास्तविकता से अभिज्ञ होने पर भी उनकी जिजीविषा उदग्र रहती है । इसलिए कुछ पात्र नए सम्बन्ध की तलाश करते हैं तो कुछ अव्यवस्थित परिवेश से प्रस्थान करते हैं । उनके सारे प्रयत्नों का लक्ष्य है ज़िन्दगी के अकेलापन से बचना । लेकिन उनको यह लक्ष्य प्राप्त नहीं होता । यही इनका अभिशाप है ।

आत्मनिर्वासन की कभी न पटनेवाली खाई में पड़े रहने पर भी राकेश के सभी पात्रों में अदम्य जिजीविषा है । पर अपने आत्मनिर्वासन से बचने का प्रयत्न भी वे ज़ारी रखते हैं ।

1· अनुवाद शोध पत्रिका - अंक - 3 - चन्द्रकांत बान्दिवडेकर - पृ·53 - 1979

निष्कर्ष

1. प्राचीन काल से लेकर अब तक के सभी बुद्धिजीवी और कलाकार अपने अपने परिवेश में आत्मनिर्वासित रहे हैं ।

2. हिन्दी में मोहन राकेश ने ही आत्मनिर्वासन की पीडा को सर्वाधिक भोगा है ।

3. राकेश के बहुत से पात्रों में अस्वतंत्रता का एहसास और अनिश्चितता का बोध प्राप्त होता है । वे प्रतिकूल परिस्थितियों से संघर्ष करते करते टूट जाते है

4. राकेश का कालिदास हमेशा अस्वतंत्रता बोध से ग्रस्त है और सर्वत्र प्रताडित होने पर वह आत्मनिर्वासन की चरम सीमा में पहुंच जाता है ।

5. "लहरों के राजहंस" का नन्द चुनाव न कर पाने की विसंगति का शिकार है ।

6. "मवामेवाला कल" का मनोज सर्वत्र अस्वतंत्र और परिस्थिति से जकडा हुआ है । एक बन्धन से मुक्त होने की बेचैनी में वह अधिक बन्धनों में फंस जाता है ।

7. मिसेस दारूवाला स्वतंत्र बनने की चाह में और भी अस्वतंत्र बन जाती है । मुक्त होने की छटपटाहट में वह और भी बद्ध हो जाती है । परिणामत: आत्मनिर्वासित भी ।

8. "अंधेरे बन्द कमरे" के प्राय: सभी पात्र जीवन में कुछ पाने की चेष्टा करते हैं और पाते हैं और कुछ । मधुसूदन का वर्तमान जीवन पराजय पूर्ण है पर उसका भविष्य भी अनिश्चित है । यह स्थिति उसमें पराजय और आत्मनिर्वासन का बोध भर देती है ।

9. 'मिस पाल' कहानी की मिस पाल अस्तित्व विहीनता की तड़प से पीडित है । अपनी अस्मिता को चित्रकला में वह सार्थक पाना चाहती है । पर वहाँ भी वह असफल निकलती है । यही उसकी आत्मनिर्वासित अवस्था है ।

10. आधे अधूरे का महेन्द्र अपने घर में एक मोहरा है रबड का टुकडा है । उस परिवार के सभी सदस्य आधे और अधूरे हैं ।

11. चौगान का हेरी विल्सन शांति की खोज में लन्दन छोड़कर भारत पहुँचा था । पर उसको भारत में भी शांति नहीं मिलती । वह अकेलापन का शिकार है ।

12. घर की तलाश राकेश की रचनाओं की मूल प्रेरणा है । उनका कालिदास गृहातुरता से ग्रस्त है ।

13. मल्लिका में आत्मनिर्वासन की स्थिति तीव्र है । वह ऐसी एक इकाई बन जाती है जो किसी भी परिस्थिति से जुड़ नहीं पाती ।

14. विलोम की स्थिति भी भिन्न नहीं है । मल्लिका के साथ विवाह करने के बाद भी उसके घर का द्वार उस केलिए बन्द है ।

15. "फौलाद का आकाश" के मीरा और रवि का सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है, "सुहागिनें" की मनोरमा जीवन को सफल बनाने का प्रयत्न करती है, पर विफल रह जाती है । दोनों आत्मनिर्वासित स्थिति में पहुँच जाती है ।

16. सम्बन्धों का विघटन और परिवेश की प्रतिकूलता व्यक्ति की अस्मिता केलिए घातक है । महेन्द्र और सावित्री के पारिवारिक जीवन का विघटन इसी कारण होता है ।

17. आधुनिक सन्दर्भ में व्यक्ति-व्यक्ति के बीच जो फासला दिखाई पड़ता है वह सृजन हीनता का परिणाम है ।

18. आत्मनिर्वासन यद्यपि जीवन की अनिवार्य नियति है तथापि मनुष्य उससे बचना चाहता है ।

19. "पैर तले की ज़मीन" और "अंधेरे बंद कमरे" के सभी पात्र अपने अकेले निरर्थक जीवन से संत्रस्त है और अतएव आत्मनिर्वासित भी ।

20. "न आनेवाला कल" का मनोज और शोभा निरर्थकता बोध से पीड़ित होकर जीवन का भार ढोने केलिए विवश है ।

21. इन सब पात्रों के मन में जीवन की अर्थहीनता का बोध है । उसके परिणाम स्वरूप मानवीय प्रेम और स्नेह का संबन्ध सूत्र टूट जाता है । व्यक्ति को अब अन्दर में केवल खालीपन ही दृष्टिगत होता है । उनके आत्मनिर्वासन का

पाँचवाँ अध्याय

आत्मनिर्वासित व्यक्तित्व : मोहन राकेश

पाँचवाँ अध्याय

आत्मनिर्वासित व्यक्तित्व - मोहन राकेश

मोहन राकेश के बारे में अनीता राकेश का यह कथन सही लगता है कि राकेश का व्यक्तित्व अपने आप अजीब है और अन्ततः अनूठा भी । अनीता राकेश लिखती है, 'शायद उन्हें पूरा जानने के लिए एक पूरी ज़िन्दगी भी कम थी, सिर्फ इसलिए ही नहीं कि उनका व्यक्तित्व बहुत बुलन्द था, बल्कि इसलिए और भी कि उनका बहुत कुछ था जो सिर्फ अपने लिए ही था । किसी और के साथ शेयर करने केलिए नहीं[1] ।"

दस साल तक राकेश के साथ जीवन बिताने के बाद भी वह अपने पति के सम्बन्ध में केवल यही निष्कर्ष निकाल सकी है । राकेश का व्यक्तित्व अन्तर्विरोधों से परिपूर्ण था । इस अन्तर्विरोधी व्यक्तित्व के कारण उनके दोस्तों के बीच में भी परस्पर विरोधी मत प्रचलित हैं । जिन-जिन लोगों ने राकेश के साथ

1· अनीता राकेश - चन्द सतरें और - पृ·96

निकट का सम्बन्ध स्थापित किया है वे भी उन्हें पूरी तरह समझ पाने में असमर्थ ही रहे हैं। अतः कह सकते हैं कि वे उन्हें अधूरा ही समझ पा सके हैं। परिणामतः उनके व्यक्तित्व के सम्बन्ध में अनेक विरोधी बातें प्रचलित हुईं, जैसे "राकेश अपने दोस्तों के लिए जीते हैं, राकेश बहुत आत्मकेन्द्रित हैं, उनकी दोस्तियां निभती हैं तो दूसरों की वजह से वो तो एक कदम भी न चल सकें :- राकेश को एक घर की तलाश है जहाँ सही मायने में कोई उनका अपना हो, जहाँ उन्हें सकून मिल सके, राकेश बोहीमियन प्रवृत्ति का इन्सान है, उन्हें कनाट प्लेस के गलियारें, काफी-हाउस की मेज-कुर्सियां, रेलवे स्टेशन की बेंचें तथा शिमला सिटी-माल की पहाड़ियां भाती है, वे कहीं-नहीं रुकते, किसी के हो नहीं सकते[1]।"

और भी कई बातें उनके सम्बन्ध में कही गयी हैं, जैसे राकेश कहीं भी स्थिर नहीं रहे, दिल्ली, जालंधर अमृतसर, शिमला और बंबई कहीं भी नहीं। इस अस्थिरता का कारण यही था कि वे कहीं भी बंद रहना नहीं चाहते थे, चाहे वह व्यक्तियों से, जगहों से या नौकरियों से हो। और यह भी है वे पत्नियों को बदलते रहे। घर से डरते थे। डाक-बंगलों की ज़िन्दगी वे अधिक पसन्द करते थे। ठीक है उन्हें इस प्रकार के परस्पर विरोधी मतों का शिकार बनना अवश्य पड़ा है। कारण कि "बाहर से राकेश जी जितने सीधे और सरल दीखते थे उतने वास्तव में थे नहीं[2]।" राकेश के सम्बन्ध में अधिक सूक्ष्म अध्ययन करने के पश्चात ही हम दोहरे चरित्र के पीछे कार्यरत मूल चेतना को स्पष्टतः उभार उठा सकते हैं।

1· नाटककार मोहन राकेश - सं० सुन्दर लाल कथूरिया - पृ०२२

2· मोहन राकेश - वासुभट्टाचार्य की दृष्टि से - सारिका - जून १९६४

अन्तर्द्वन्द्व का अखाड़ा

राकेश का जीवन भी स्वयं अन्तर्द्वन्द्वों और संघर्षों का अखाड़ा था । स्वभावतः उनके जीवन में बिखराव आ गया । "परिवेश" की भूमिका में अपने निरालेपन को व्यक्त करते हुए राकेश लिखते हैं, "कुछ लोगों की ज़िन्दगी में बिखराव बहुत होता है । मैं अपने को ऐसे ही लोगों में पाता हूँ । बिखरना और बिखेरना मेरे लिए जितना स्वाभाविक है, संभलना और समेटना उतना ही अस्वाभाविक है[1] ।" ज़िन्दगी के इस बिखराव के कारण राकेश किसी के सामने पूर्ण रूप से प्रकट नहीं हुए । लोगों को ऐसा लगा कि राकेश एक ऐसी भूलभुलैया में लिपटे हुए हैं जिसमें से वास्तविक राकेश को बाहर लाना असंभव है । क्योंकि, "निराला के बाद हिन्दी साहित्य में जिस आदमी के चारों ओर सबसे ज्यादा "मिथ" बुनी गई, वह था मोहन राकेश[2] ।"

एक बात यहाँ आनुषंगिक रूप से बताना अनुचित नहीं होगा । डॉ॰ गोविन्द चातक राकेश को मसीहा के रूप में देखना चाहते हैं । यद्यपि वे स्पष्ट बताते हैं कि इस विचार के पीछे उनका कोई विशेष आग्रह नहीं है । फिर भी अपनी मान्यता की गलती कबूल करते हुए भी वे राकेश को मसीहाई परिवेश में ही देखते हैं[3] । यह दृष्टि स्वस्थ आलोचना की परिचायक नहीं प्रतीत होती । पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसने राकेश के सम्बन्ध में जो अध्ययन किया है वह अधिकारिक तथा अद्वितीय है ।

दोस्तों से मिलकर ज़ोर ज़ोर से बोलने और ठहाके मारनेवाला राकेश और लेखक राकेश में दिन - रात का अन्तर है । वे ज़िन्दगी भर असुरक्षा और आत्मनिर्वासन की पीड़ा को सहते हुए, अकेले ज़िन्दगी से जूझते-लड़ते सरासर

---

1. परिवेश - मोहन राकेश - भूमिका से
2. डॉ॰ गोविन्द चातक : आधुनिक हिन्दी नाटक का मसीहा -मोहन राकेश-पृ॰
3. वही - पृ॰5

पराजय भोगते ही रहे । लेकिन वे बाह्य रूप से दूसरों के समक्ष पराजित नहीं दीखते थे "हर समय खुश पर उस खुशी में उदास । खुशी में उदास और उदासी में खुश[1] ।" ठहाका राकेश केलिए आभूषण जैसा था जिसके सहारे दूसरों के सामने वे अपने को सुरक्षित और संतुष्ट दिखाते थे ।

रचनाकार का अपना एक संसार होता है जहाँ वह बिलकुल अकेला होता है । अपनी यंत्रणाओं के साथ एकांत में मौन संवाद करनेवाले राकेश का रूप बिलकुल और है । वहाँ ठहाकों से प्रसन्न वदन राकेश का रूप हम नहीं देख सकते । असुरक्षा और अकेलापन के मारों से बुरी तरह आहत राकेश का आत्मक्रंदन ही हम सुन सकते हैं । "पर उनके ठहाके के पीछे वास्तव में एक और ही व्यक्ति छिपा रहता है - वह व्यक्ति, जो बहुत गम्भीर है और अपने अन्दर की असह्य यंत्रणा से पीड़ित रात-दिन उसमें छटपटाता है । वही व्यक्ति लेखक राकेश है[2] ।"

ज़िन्दगी की क्षणिकता और निरर्थकता को समझते हुए भी राकेश आस्थावान थे । अपने अस्तित्व की लघुता से वे परिचित थे "इतने बड़े ब्रह्माण्ड में सैकड़ों नक्षत्रों के बीच आदमी का अस्तित्व सिर्फ एक छोटे से बिन्दु के अतिरिक्त कुछ भी नहीं और बिन्दु का इतने बड़े ब्रह्माण्ड के बीच कुछ भी अस्तित्व नहीं[3] ।" इस अस्तित्वहीनता को महसूस करते हुए भी उस छोटे बिन्दु तक पहुँचने केलिए राकेश निरन्तर कार्यरत ही रहे । अतः आस्था उनकी ज़िन्दगी का पाथेय थी । जीवन यात्रा के संघर्षपूर्ण पगडंडियों का सामना करनेवाला राकेश सही अर्थ में अजीब थे । इस अजीब व्यक्ति को "अन्दर तक ठीक से समझना एक बहुत बड़ी तपस्या थी

---

1. मोहन राकेश - बासु भट्टाचार्य की दृष्टि से सारिका - जून 1964
2. मोहन राकेश - बासुभट्टाचार्य की दृष्टि से सारिका - जून 1964
3. अनीता राकेश- चन्द्र सतरें और - पृ.90

…… क्योंकि राकेश जी केवल अपने लिए ही कहीं पूर्ण है।[1]" यह भी नहीं, अनीता की विडम्बना इस बात में है, "हर रोज़ मुझे लगा था कि आज मैंने राकेश जी को समझ लिया है और कोई परेशानी नहीं रही, लेकिन हर अगले दिन लगता था कि बस यही एक बात और समझने को रह गयी थी - बस अब सब ठीक होगा"[2] क्योंकि राकेश का असली व्यक्तित्व और अनीता का भोगा हुआ व्यक्तित्व अलग अलग क्षितिज पर खड़े हुए हैं। एक अन्तराल उन दोनों के बीच में अवश्य है, पर वह उनका अपना ही है।

अपने दोस्तों के साथ भिन्न-भिन्न प्रकार से व्यवहार करने में राकेश अधिक समर्थ थे। फिर भी उनका स्पष्ट विचार यह था, "ज़िन्दगी में पहले नम्बर पर मेरे लिए लेखन है, दूसरे नम्बर पर मेरे दोस्त तीसरे नम्बर पर तुम [अनीता] - लेकिन तीनों ही मेरे लिए आवश्यक है यह एक ध्रुवसत्य था।[3]" दोस्तों का एक विशाल समूह उनके पास था। लेकिन अजीब बात यह है कि सबके चरित्रों को भली-भाँति समझकर भिन्न भिन्न प्रकार से व्यवहार करने में वे सक्षम थे। इस विचित्र व्यावहारिक क्षमता के सम्बन्ध में जिज्ञासा प्रकट करने पर अनीता जी को उन्होंने जवाब दिया, "हर आदमी की एक निजी "भूख" होती है। मैं अपने प्रत्येक मित्र के साथ अलग-अलग तरह से पेश आता हूँ …… हर आदमी को एक ही लेवल पर नहीं लिया जा सकता।[4]" राकेश के चरित्र की और एक विशेषता यह है कि वे दोस्तों को अपनी बुराइयों के साथ ही चाहते थे न कि केवल भलाइयों के साथ। उनका मत है कि प्रत्येक व्यक्ति में भलाई और बुराई का होना आवश्यक केवल अच्छे गुणवाले व्यक्ति बिलकुल बोरिंग हो जायेगा। "अंदाजा लगाओ कि यदि कोई व्यक्ति केवल अच्छाइयों का/ही भरा हो तो वो कितना बोरिंग हो सकता है।[5]

---

1. अनीता राकेश - चन्द सतरें और - पृ.86
2. वही - पृ.81
3. वही - पृ.78
4. वही - पृ.86
5. वही - पृ.86

राकेश में अनिश्चितता व्यापी हुई है वह वास्तव में उनकी सृजनात्मक प्रतिभा की है। वह स्वयं भी अपने को स्थिर नहीं रख सका है। आत्मस्वीकृति के सन्दर्भ में ही उनके चरित्र की वास्तविकता हम समझ सकते हैं। गतिशील जीवन के कटु अनुभवों के भोक्ता कभी भी स्थिर नहीं रह सकते। राकेश सूक्ष्म द्रष्टा है। वह हर आघातों से संत्रस्त है। इसलिए वह कहता है, "मैं न यह हूँ न वो हूँ..... मैं सिर्फ यह हूँ[1]।" इस "यह" को समझ लेने की हर कोशिश बेकार निकलती है। हाथ में आते आते और फिसलते हो जाते हैं। इन सबके ऊपर राकेश के व्यक्तित्व का सबसे प्रबल पक्ष था। वह था उनका "ईगो", जिस को किसी भी स्थिति में राकेश ने कोम्प्रोमाइज़ नहीं होने दिया। यह "ईगो" उनमें निहित लेखक का है। साहित्यकार के रूप में वे बिलकुल स्वतंत्रता के सही और अहं के उपासक थे। इस प्रकार उनके व्यक्तित्व के दो पक्ष देख सकते हैं। एक रचनाकार के रूप में दूसरा व्यक्ति के रूप में। "उनके विभाजित व्यक्तित्व को दो भागों में बड़ी सूक्ष्मता से आंका जा सकता है। एक तरफ तो आदमी इंटेलेक्चुअल था और दूसरी तरफ आदमी इमोशनल लेखक था[2]।"

बौद्धिकता के कारण वह अन्तर्मुखी थे तथा एकांतता उनके घनिष्ठ मित्र थी। कभी-कभी वह पूरा दिन लिखते ही रहते हैं तब अगर किसी ने डिस्टर्ब कर दिया तो उनके मुख पर एक क्वेश्चन मार्क लग जाता था और पूछ लेते थे, "जानती हो, किसी औरत की डिलीवरी हो रही हो, उस वक्त किसी को भी वहाँ डिस्टर्ब करने का क्या मतलब हो सकता है ? इट एमाउंट्स आलमोस्ट टु मर्डर[3]" ठीक उसी प्रकार वे उतने इमोशनल भी थे। "तुम मुझे छोड़कर नहीं जाओगी न कभी .....[4]।" अनीता से इस प्रकार कहते समय वे बच्चों के समान इमोशनल भी बन जाते थे। राजेन्द्रपाल ने भी लिखा है "राकेश का व्यक्तित्व सतही तौर पर

---

1. अनीता राकेश - चन्द सतरें और - पृ.86
2. वही - पृ.101
3. एक यादों के एकांत क्षण में - अनीता राकेश - सारिका मार्च 1973
4. वही - पृ.

विसंगतियों और अंतर्विरोधों से ग्रस्त था।[1]" राकेश ने अपने निराले चरित्र को स्वयं ही व्यक्त किया है "...... मैं एक असंभव व्यक्ति हूँ, उसके साथ-साथ मैं यह भी कहना चाहता हूँ कि मैं एक बहुत ईमानदार आदमी भी हूँ।[2]" इस असंभव और साथ ही साथ ईमानदार व्यक्ति में निहित अंतर्विरोधी व्यक्तित्व के मूल कारण को समझना बहुत दिलचस्प बात है।

जीवन की प्रथम मार्मिक घटना

राकेश के जीवन में घटित आकस्मीय अविस्मरणीय और दर्दनाक घटनाएं ही उनके अन्तर्विरोधी व्यक्तित्व के निर्माण की प्रेरक शक्तियां हैं। 8 जनवरी, 1925 को पंजाब के अमृतसर में जन्मे मदन मोहन गुगलानी की ज़िन्दगी सपाट और स्वस्थ न बन पाई। टेढ़े-मेढ़े रास्तों से होकर गुज़रने की विवशता उन्हें बहुत कम आयु में ही झेलनी पड़ी। पिता की अकाल मृत्यु इसलिए आघात सिद्ध हुई कि उन्होंने मृत्यु के क्रूरतम चेहरे के साथ साथ मनुष्य में छिपी पाशविकता भी देखी। अपने पिताजी के मृत शरीर के सामने बैठे हुए राकेश ने सुना, "मैं मुरदा नहीं उठने दूंगा। जब तक किराया अदा किया जाता, मैं किसी को मुर्दे को हाथ नहीं लगाने दूंगा।[3]" यह उस मकान मालिक के बड़े लड़के का स्वर था जिसके वे कर्ज़दार थे। इस घटना के समय अपना सिर बाहों में डाले घर की सीढ़ियों पर बैठे मदन के लिए यह जीवन का "विषम अनुभव" था, उसके व्यक्तित्व का आहत पक्ष था। सुबह होने से पहले ही माँ की चूड़ियाँ बेची गईं, किराया चुकाया गया और मुरदा उठाने दिया गया।

---

1. नाटककार : मोहन राकेश - सं० सुन्दरलाल कथूरिया - पृ०22
2. अनीता राकेश - चन्द सतरें और - पृ०58
3. मोहन राकेश - परिवेश - पृ० 3

"गर्दिश के दिन" में अपने को व्यक्त करते हुए राकेश कहते हैं, "वह नहीं समझता था कि उसके लिखे शब्दों में अनायास ही जो एक कटुता घुल आती है उसका वास्तविक स्रोत अन्दर का वह रिसता हुआ बिन्दु ही है[1]।" पिता के

अंदर का रिसता बिन्दु

शवदाह के बाद एकाएक से छोटे बदन पर माँ, भाई-बहन समेत पूरे परिवार का देख-भाल करने की जिम्मेदारी आ पड़ी। "घर की पूरी जिम्मेदारी सिर पर होने से उसे निभाने की मज़बूरी से मन घबराता था। मैं किसी तरह अपने को विरासत से सब सम्बन्धों से मुक्त कर लेना चाहता था, परन्तु मुक्ति का कोई उपाय नहीं था। छोटा भाई इतना छोटा था, बड़ी बहिन इतनी संस्कारग्रस्त और माँ इतनी असहाय कि मेरी "स्वतन्त्रता" की भूख कोरी मानसिक उड़ान के सिवा कुछ महत्त्व नहीं रखती थी[2]।"

छोटी आयु में मिले तिक्त अनुभवों और असमय कुटुम्ब भार अपने ऊपर आ जाने के कारण मदन की स्वतन्त्रता की भूख मन ही मन दबी रह गयी। यही नहीं सोलह साल की उम्र में ही अपने को ज़िन्दगी के चौखटे में फिट करना पड़ा। "आँखें आसपास की ज़िन्दगी के प्रति बहुत सतर्क हो रही थीं। अपने से बाहर घर को और घर से बाहर सामाजिक बन्धनों को प्रश्नात्मक दृष्टि से देखने लगी थीं[3]।" यह प्रश्नात्मक दृष्टि बचपन में लगे कठोर आघात से उत्पन्न आक्रोश और अतृप्ति की ही उपज थी। पिता की मृत्यु के बाद हुई शोक सभा में कितने लोगों ने भाषण दिया। लेकिन उसके बाद किसी को देखने को भी नहीं मिला। वहाँ से सभाओं और भाषणों की निरर्थकता उन्होंने समझ ली।

---

1. गर्दिश के दिन - मोहन राकेश - सारिका - फरवरी 1973
2. गर्दिश के दिन - मोहन राकेश - सारिका - फरवरी 1973
3. परिवेश - मोहन राकेश - पृ. 16

आघातों पर आघात

आघातों पर आघात सहने केलिए अभिशप्त थे राकेश। आर्थिक पराधीन एक ओर राकेश को खाए जा रही थी। एक और मृत्यु का सामना उन्हें करना पड़ा जो उनकी बाल-सहचरी की थी। दिव्या उसका नाम था। और एक घटना घटी जो एक आदमी के जीवन को उन्मथित करने केलिए पर्याप्त थी - वह थी विभाजन की विभीषिका। अपने परिवेश से उखाड़ फेंके जाने का एहसास हर आदमी के मन में चोट पैदा कर सकता है। राकेश खुद लिखते हैं - "दो दुर्घटनाएं लगभग साथ-साथ हुईं। पहले विभाजन, फिर दिव्या की मृत्यु। पहली ने परिवेश से उखाड़कर फेंक दिया। दूसरी ने उखड़ने के अहसास को बहुत गहरा बना दिया।"[1] अपने आप को शरणार्थियों के काफिले में पाने की दुःस्थिति भी उन्हें झेलनी पड़ी। ज़िन्दगी से मिले हुए आघातों के परिणामस्वरूप "अनिकेतता" से वह असहिष्णु हो गए थे। अपने बाह्य और आन्तरिक जीवन केलिए स्वयं कोई रास्ता खोज निकालना चाहते थे, जो उन्हें स्वीकार्य हो। उन्नीस साल की आयु में ही अस्थिरता, असंवादिता और आक्रोश के रास्ते से आगे बढ़ते वे बहुत विद्रोही बन गए।

एक एक करके कई मर्मस्पर्शी घटनाएं राकेश के जीवन में घटित हुईं। पिता की मृत्यु, कर्ज, दिव्या की मृत्यु, विभाजन जैसी घटनाओं की तीव्रता के कारण मदन को अपने जीवन काल में कभी भी चैन नहीं मिला और वे कहीं भी स्थिर नहीं रह सके। सोलहवें वर्ष की उम्र में ही मदन उलझी हुई ज़िन्दगी के पथ को सुलझाने के लिए शिक्षक बन गए। इस जीवन पथ के सारे मोड़ अकेले झेलते हुए मदन जल्दी ही बुज़ुर्ग बन गये। इस उखड़े हुए जीवन को समेटने और एक व्यवस्थित कौटुम्बिक जीवन बिताने की आकांक्षा से सन् 1950 के अन्त में उन्होंने

---

[1] आइने के सामने - डॉ॰ मोहन राकेश - पृ॰20

विवाह कर लिया । पर यह आकांक्षा असफल सिद्ध हुई । जिस व्यवस्थित जीवन की इच्छा से शादी कर ली थी उसी ने जीवन को अधिक बर्बाद कर डाला । व्यवस्थित जीवन की कल्पना स्वयं नष्ट हो गई । वैवाहिक जीवन में जो सिलसिला बनना था वह अवसर भी टूट गया ।

इस्तीफाओं का सिलसिला

राकेश कहीं स्थिर रहने के लिए तैयार नहीं थे । अपनी नौकरियों में से उन्होंने जितनी बार इस्तीफा दिए हैं वे उनके लिए महत्त्वपूर्ण हैं । सबसे पहले वह बम्बई में एक फिल्मी कंपनी में कहानीकार के रूप में उन्होंने काम किया । जहाँ उन्हें अरुचि ही मिली । इसलिए उन लोगों को सूचना दी "किन्हीं विशिष्ट तथा अव्याख्येय कारणों से मैं आदरपूर्वक आपको सूचित करना चाहता हूँ कि मैं आपकी कंपनी के कहानीकार पद से तत्काल इस्तीफा दे रहा हूँ ।"[1] यहीं से, मतलब बम्बई से राकेश की इस्तीफाओं का सिलसिला शुरू होता है । 1949 से शुरू होनेवाला यह क्रम 1963 तक जारी रहा । राकेश के इस्तीफाओं के सिलसिले के पीछे एक ओर उनके जीवन के कटु अनुभवों से उत्पन्न आक्रोश और तिरस्कार भावना ही कार्यरत थी । दूसरी ओर स्वतंत्रता-कामी उनका रचनात्मक अहं । किसी के अधीन रहना या किसी अनिवार्यता को सह लेना उन के लिए असंभव था । कृष्ण चन्दर से हुई अपनी मुलाकात के समय वे कहते भी हैं, "जिस तरह तुम फिल्मों के लिए लिख लेते हो, मैं नहीं कर सकता कैसे तुम ऐसा फिल्मों के लिए लिख लेते हो ? .... मैं तो आगे नहीं बना सकता । मेरा सारा कहना एक जाना है ।"[2]

---

1. मोहन राकेश का पहला इस्तीफा - सारिका मार्च 1973 पृ.29
2. वही - पृ.74

इसी आन्तरिक जिज्ञासा ने राकेश को किसी एक जगह टिकने नहीं दिया । सम्मानपूर्ण जीविकोपार्जन के साधन की खोज करते हुए वे 1947 में बम्बई विश्वविद्यालय के एलफिन्स्टन कालेज में ~~प्रोफेसर~~ हिन्दी प्रोफेसर नियुक्त हुए । लेकिन नौकरी ज्यादा दिन नहीं चली । सन् 1949 में छिन गयी "कारण था आँखों का का निर्धारित सीमा से अधिक कमज़ोर होना"[1] बाद में जालंधर के डी॰ए॰वी॰ कालेज में प्राध्यापक पद पर नियुक्ति हुई । यहाँ भी नौकरी अधिक दिन तक नहीं करनी पडी ।" इस बार कारण था टीचर्ज यूनियन की गतिविधि में सक्रिय भाग लेना"[2] ।

यह तो सन् पच्चास के शुरू में हुआ था "सन् पच्चास से सन् चौवन के बीच का समय मेरे लिए काफी उथल पुथल का समय था ।"[3] स्पष्ट: श्री राकेश आर्थिक दृष्टि से उतने स्वस्थ तो नहीं है । इसके ऊपर बेरोजगारी का आतंक और सहना पडा । काफी मुसीबतों को सह लेने के बाद उन्होंने शिमला के बिशप कॉटन स्कूल में नौकरी स्वीकार कर ली । लेकिन वहाँ भी अधिक दिन स्थिर नहीं रह सके ।

मोह और मोहभंग का सिलसिला वर्षों तक चलता रहा । जीवन की मुसीबतों से बचने का कोई मार्ग नहीं मिला । उनसे बचने के हर प्रयत्न ने उन्हें उत्तरोत्तर कठिनाइयों की गहरी खाइयों में पहुँचा दिया । बिशप कॉटन स्कूल की नौकरी उन्हें अधिक सतानेवाली थी । वहाँ किसी तरह का स्वातन्त्र्य नहीं था । वक्त पर पहुँचना उनके बस की बात नहीं थी । एक क्रमबद्ध जीवन से जुडे रहना उन्हें असहनीय था । सवेरे से शाम तक की पढाई उनके रगों पर लगातार आघात पहुँचाती रही । इस प्रकार की बहुत-सी उलझनें उनके इस कथन से स्पष्ट हो

---

1. गर्दिश के दिन - मोहन राकेश - सारिका फरवरी 1973
2. गर्दिश के दिन - मोहन राकेश सारिका फरवरी 1973
3. वही

होती है 'प्रभु ईसा को कभी नौकरी नहीं करनी पड़ी, वरना सारा टेस्टामेंट ही बदल गया होता ...... एक एक करके सात पीरियड । पढ़ा सकते थे ईसामसीह इतने पीरियड ? उनसे कहीं आसान था क्रास कंधे पर लेकर चलना[1] ।"

मास्टर की बंधी बंधाई ऊबाऊ ज़िन्दगी उसे "मास्टर नाम का यंत्र" लगता था । 'सन् बावन तक आते आते परिस्थितियों की पकड़ इस तरह कसने लगी थी कि आखिर नौकरी छोड़ दी[2] ।" वहाँ से उन्होंने निर्णय किया कि अपनी स्वतंत्रता को बनाये रखना, किसी नौकरी पर मत जाना, केवल अपने लेखन पर निर्भर रहकर न्यूनतम साधनों में जीवन बिताना ही आगे का लक्ष्य होगा । लेकिन यह अभियान भी ज्यादा दिन नहीं चल सका ।

डी॰ए॰वी॰ कालेज जालंधर में दूसरी बार नौकरी मिली । यह उनके जीवन की सबसे लम्बी नौकरी थी । 'चार साल चार महीने उस नौकरी में काटने के बाद सन् सत्तावन के अंत में मैंने वहाँ से त्याग पत्र दे दिया[3] ।" इसके बीच राकेश अपने प्रथम असफल विवाह सम्बन्ध से मुक्त हुए । जालंधर की नौकरी छोड़ने के बाद एक साल वहीं रहे । फिर तीन साल दिल्ली में ।

1962 में फिर वे सारिका के संपादक बने । लेकिन वहाँ भी वे टिक न सके । उनके अन्तर्मन की वह चोट हमेशा उन्हें सताती ही रही । साथ साथ स्वतंत्रता की चाह भी । सवेरे उठकर दफ्तर जाना वहाँ संपादन कार्य में लगे रहना जो उनके चरित्र के अनुसार अनिवार्य कार्य था, उसे निभाने में वे सहज ही असमर्थ थे । सवेरे उठकर नाटक या उपन्यास के चन्द सतरें लिखने के बदले दफ्तर

1· व्यक्तिगत डायरी - सारिका 1964 - पृ॰19

2· गर्दिश के दिन - मोहन राकेश सारिका फरवरी 1973

3· वही

जाना उनके अहं को चोट लगाना ही था । इसी बीच उनकी दूसरी शादी हुई । "राकेश के जीवन के लिए एक अजीब आकुलता थी, अपना सब कुछ दांव पर लगा देने का पागलपन था । अपने को भरा-भरा महसूस करने के लिए उन्हें अपने को रीता करना पड़ा[1] ।"

वैवाहिक जीवन की असफलता और नये सम्बन्धों की स्थापना

जीवन के प्रति इस तीव्र आस्था और मोह के कारण राकेश "एक और ज़िन्दगी" जीने के लिए तैयार हुए । "राकेश ने एक और ज़िन्दगी की शुरुआत की तो मैं उसका गवाह था[2] ।" उस लड़की के सम्बन्ध में राकेश ने ऐसा कहा भी था । "बहुत मासूम-सी लड़की थी । बात करते हुए उसकी आँखें नीचे को झुक जाती थीं । साधारण पढ़ी लिखी थी और बहुत असाधारण ढंग से ही रहती थी । उसे देखकर अनायास मन में सहानुभूति उमड़ आती थी[3] ।" लेकिन यह राकेश की दूसरी गलती थी । एक घनिष्ठ मित्र ने वास्तव में उन्हें धोखा दिया था । अतः दूसरी शादी भी एक दर्द-भरी कहानी बनी । यह लड़की मानसिक रूप से लगभग विक्षिप्त थी ।

राकेश की "एक और ज़िन्दगी" नामक कहानी उनके जीवन की इसी दौर की कहानी है जिसमें अनिश्चितता का एहसास उद्भासित है । अनीता की माँ चन्द्रावती को लिखे पत्र में उसने स्पष्ट किया है, "जिस स्वीट महिला को आप ने मेरी पत्नी के रूप में देखा था, उसीकी वजह से मुझे दिल्ली का घर छोड़कर बिना कपड़े-लत्ते के बम्बई आना पड़ा था । उस केस का भी मात्र परिचय आपको मेरी कहानी "एक और ज़िन्दगी" से मिल सकता है । आज कल वह मामला अदालत

---

1. डॉ॰ गोविन्द चातक - आधुनिक नाटक का मसीहा - मोहन राकेश, पृ॰26
2. नाटककार मोहन राकेश - सं॰सुन्दरलाल कथूरिया:राजेन्द्रपाल का लेख, पृ॰26
3. वही - पृ॰26
4. अनीता राकेश - चन्द सतरें और - पृ॰45

इन सारी तकलीफों और मानसिक तनावों के कारण वे दिल्ली छोड़कर बम्बई चले लेकिन वहाँ भी उनको आराम नहीं मिला, 'उनकी पत्नी ने सारिका के कार्यालय में जाकर तमाशा बना दिया तो उनके आत्म-सम्मान को आघात लगा और वे सारिका छोड़कर दिल्ली लौट आये[1]। उन्होंने दूसरी बीवी को भी छोड़ दिया । "सन् तेरसठ के शुरू में सारिका छोड़ने के बाद से .... फिर से किसी नौकरी में जाने की नौबत नहीं आयी.......[2]" ।

सारिका छोड़ने के बाद राकेश के स्वतंत्र लेखक का जीवन शुरू होता है । इसके पहले जीवन में और एक आघात सहना पड़ा माँ की मृत्यु । उसके बाद अपना भाई वीरेन उन्हें छोड़कर बम्बई चला गया । सन् 1963 में उन्होंनें दिल्ली में अपना स्वतंत्र जीवन शुरू किया । यहाँ से राकेश की अपनी सही तलाश शुरू होती है । जीवन को उसकी पूर्णता में महसूस करने का मोह ही तीसरी शादी के पीछे प्रेरक रहा । उन्होंने 1963 जुलाई में अनीता से शादी कर ली । 'नहीं कदापि नहीं मैं आने वाले कल में जीना चाहता हूँ, चाहे मुझे असफलता ही मिले अन्त तक[3] ।" इसी निर्णय के कारण अनीता की माता के सख्त विरोध होते हुए भी उन्होंने वही किया जो उनके मन ने चाहा । इतने साल तक के प्रयास के बाद अंत में अनीता से अपने प्रथम दिन की रात में असुरक्षा और आश्रयहीनता से पीड़ित उनका मन बोल उठता है "....... मुझे घर चाहिए ...... अपना घर । मुझे जिन्दगी में और सब कुछ मिला है ...... सिर्फ एक घर नहीं मिला[4] ।" इस घर की तलाश उनकी सभी रचनाओं में देख सकते हैं ।

1· नाटककार मोहन राकेश – सुन्दरलाल कथूरिया – पृ·27

2· गर्दिश के दिन – मोहन राकेश सारिका फरवरी 1973

3· मोहन राकेश – बासु भट्टाचार्य की दृष्टि से – सारिका जून 1964

4· अनीता राकेश – चन्द सतरें और – पृ·79

साहित्य क्षेत्र में राकेश

भोगी हुई अनुभूतियों का अपना महत्व है । जब ये अनुभूतियाँ अभिव्यक्ति की अनिवार्यता के बिन्दु तक आती है तब तमाम संघर्षों के साथ अभिव्यक्ति संभव होती है । "अनुभूति तो स्वाभाविक प्रक्रिया है ही, परन्तु अभिव्यक्ति में स्वाभाविकता लाने के लिए बहुत दक्षता और शिल्प के अधिकार की अपेक्षा है और यह स्वाभाविकता शायद एक रचना की सबसे बड़ी परीक्षा है[1] ।" राकेश के इस कथन के आधार पर उनकी समस्त रचनाओं की छानबीन करेंगे तो यह बात विदित होती है कि वे सब अपने इर्द-गिर्द की अनुभूत कथाओं का प्रतिस्फुरण हैं ।

रचनाकार के रूप में राकेश की प्रतिष्ठा की शुरूआत कहानियों से होती है । पिता की मृत्यु के बाद मदन ने संस्कृत छोड़कर हिन्दी में लिखना आरम्भ किया । अनुमान किया जाता है कि "नन्हीं" शायद उनकी पहली कहानी है, जो उन्हीं की हस्तलिपि में स्कूल की परीक्षाओं की लंबी कापी के कागज़ों पर लिखी हुई प्राप्त हुई है । यह उनकी मृत्यु के बाद सारिका [मार्च 1973] में प्रकाशित हुई । "यह 7 मई सन् 1944 में लाहौर में लिखी गयी । इसकी पाण्डुलिपि पर तरह-तरह से "राकेश" लिखा हुआ देखा गया है । संभवतः यह प्रक्रिया उपनाम चुनने की रही है, जो बाद में उनका नाम ही हो गया[2] ।"

लेकिन राकेश की डायरी के अनुसार उनकी पहली प्रकाशित कहानी "भिक्षु" है जो सरस्वती भाग 46" में प्रकाशित हुई । कमलेश्वर ने अपने हमदम दोस्त राकेश की मृत्यु के बाद उनकी अप्रकाशित कहानियों को "एक घटना" नाम से प्रकाशित करवा दिया है । उसकी भूमिका में कमलेश्वर ने इस बात को और अधिक स्पष्ट कर दिया है "इस संकलन की सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि नई कहानी के अग्रदूत मोहन राकेश की पहली लिखित कहानी "नन्हीं" और पहली प्रकाशित कहानी भिक्षु दोनों यहाँ मौजूद है[3] ।"

---

1. मोहन राकेश - परिवेश - पृ.183
2. सारिका - मार्च 1973, पृ.62
3. सं. कमलेश्वर-एक घटना - भूमिका - पृ.5

राकेश की साहित्ययात्रा को समझने केलिए इन दोनों कहानियों का महत्व है । "मन्दी" में यथार्थ की पकड़ है तो "भिक्षु" में नाटकीयता और एक विशिष्ट वातावरण, जो उनके नाटकों का बीज माना जा सकता है । उनकी संपूर्ण कहानियाँ एक पूर्ण रचनाकार की अनेक सृजनात्मक क्षणों को संकेतित करती हैं । विभाजन, मोहभंग, यांत्रिकता, विसंगतियाँ, निरर्थकता, कामतृष्णा, विघटन, राजनीतिक, सामाजिक भ्रष्टाचार और व्यापक असंतोष के बीच जी रहे लोगों को लेकर उनकी कहानियों का सृजन हुआ है । इनमें [illegible] सच्चाई का पुट ही अधिक है क्योंकि राकेश ने जीवन में जो कुछ भोगा-जीया उन सबको अपनी कहानियों में स्थापित किया है । संबन्धों का विघटन और उनमें जुटे रहने की समकालीन छटपटाहट उनकी कहानियों का एक प्रमुख स्वर है । मोहन राकेश ने स्वयं ही कहा है - "व्यक्ति और समाज को परस्पर विरोधी एक दूसरे से भिन्न और आपस में कटी हुई इकाइयाँ न मानकर यहाँ उन्हें एक ऐसी अभिन्नता में देखने का प्रयास है जहाँ व्यक्ति समाज की विडम्बनाओं का और समाज की यंत्रणाओं का आईना है[1] ।" समकालीन परिस्थितियों को उजागर करनेवाली कहानियों में एक और ज़िन्दगी, अपरिचित, पोगान, आर्द्रा, ग्लास टैंक, फौलाद का आकाश, आखिरी सामान, गुलम, पहचान, क्वार्टर आदि प्रमुख है ।

कहानियों में प्रतिबिम्बित राकेश

बहुत सारी कहानियों में समकालीन जिजीविषा के साथ व्यक्ति के संबंधों का एक ऐसा आयाम भी है जो हर सचेत व्यक्ति के आत्मीय अन्वेषण से सम्बन्धित है, जिसे हम "घर की खोज" कह सकते हैं । यह अपने आपको भीड़ में अकेले पाने की स्थिति से उत्पन्न मानसिक उथल-पुथल का अंश है । अस्तित्व को जब अस्वीकारा जाता है तब ऐसी व्यथा विकसित होती है । राकेश इस व्यथा का हमेशा शिकार रहे हैं । यही नहीं उनकी ज़िन्दगी में कहीं भी कोई जगह उन्हें हासिल नहीं हुई । पारिवारिक जीवन की असफलता भी इसमें जुड़ी हुई है ।

---

1. मोहन राकेश -मेरी प्रिय कहानियाँ - पृ.11

इसलिए उनके दिमाग में "घर" एक "मिथ" था । अन्वेषण की वह मंज़िल थी जहाँ वे अपने आप को स्वस्थ पाना चाहते थे । "....... जिसमें वह जब भी चाहें जैसे भी चाहें जा सकते थे ...... उन्हें कोई कुछ भी कहनेवाला नहीं था । उन्हें एक ऐसे घर की तलाश थी जिसमें एक नालायक लड़का हो फिर भी उसके घरवालों को उसकी नालायकी पर नाज़ हो[1] ।" अर्थात् एक पूर्ण घर की चाह ने ही राकेश को एक से अधिक ज़िन्दगी के वरण के लिए विवश किया था ।

एक दूसरे के निकट रहने पर भी अजनबीपन की पीड़ा से टकराने वाले पति-पत्नी की कहानी है "अपरिचित" । वे सम्बन्धों की निरर्थकता में सांस ले रहे हैं । सम्बन्ध बनाने की छटपटाहट सभी के अन्दर विद्यमान है । पर एक सीमा तक आकर दोनों रुक जाते हैं । अतः अपरिचित रहने की विसंगति को झेलने के लिए दोनों पति-पत्नी विवश बन जाते हैं । यह कहानी राकेश की भोगी हुई ज़िन्दगी के एक पहलू का उद्घाटन करती है ।

"चौगान" कहानी में पति-पत्नी का विरोध तलाक में परिणत होता है कहानी का परिवेश अभारतीय है । लेकिन ध्यान देने की बात यह है कि इसमें राकेश के पहले असफल वैवाहिक जीवन का ही चित्रण हुआ है । कहानी की पत्नी विल्सन मिज़ी पति विल्सन हेरी के जीवन से तंग आ कर उसे तलाक देती है । मिज़ी और बेटे की अनुपस्थिति में विल्सन लन्दन से भारत आकर "एक छोटे से कस्बे में केवल साहब रह गया[2] ।" पत्नी और बेटे के अभाव में उसकी ज़िन्दगी बहुत बोझिल और बेमानी बन जाती है । अतः पुनः हेरी विल्सन बन कर जीने की चाह उसमें होती है । यही चाह राकेश की दूसरी शादी के मूल में है । एक अभारतीय की ज़िन्दगी की बेमानी और जटिलता को भारतीय परिवेश में इस कहानी में व्यक्त

---

1. अनीता राकेश - चन्द सतरें और - पृ.83
2. मोहन राकेश - पहचान-चौगान - पृ.100

किया गया है । इसमें व्यक्त है कि विघटन भारतीय या अभारतीय नहीं अपितु एक मानवीय समस्या है ।

'आर्द्रा' भी लेखक के जीवन की एक घटना पर आधारित है । इसमें सम्बन्धों की व्यर्थता की कहानी कही गयी है । भाई भाई के बीच का संघर्ष और एक दूसरे से अलग हो जाने की घटना है । इसके साथ ही छटपटाती माँ की विडम्बना का वर्णन किया गया है । माँ इन दोनों को नहीं छोड़ पाती । बात तो स्पष्ट है । राकेश, उनके छोटे भाई और माँ ही इस कहानी के पात्र हैं । 'उनका छोटा भाई वीरेन घर के तनावपूर्ण वातावरण से कुंठित घर छोड़कर बम्बई चला गया । माँ को तो ऐसे जहर पीने की आदत थी .....।'[1] राकेश की माँ जी पर बड़ा प्यार था । लेकिन माँ अपने जीवन के कटु अनुभवों से ठोकर खाकर अपने घर में मेहमान के समान रहती थी । अपने घर में मेहमान बनना आधुनिक परिवेश की ही देन है । आर्थिक और सामाजिक विपन्नता मनुष्य को लोगों के बीच रहते हुए भी अकेला होने के लिए मजबूर करती है ।

बृहत्तर आयाम:उपन्यास

कहानियों में व्यक्त राकेश अपूर्ण है लेकिन वास्तविक राकेश का रूप उपन्यासों और नाटकों में छिपा है । नाटक में राकेश के अन्तर्द्वन्द्वों का चित्रण हुआ है । लेकिन उपन्यासों में उनकी पूरी जिन्दगी ही चित्रित है । इसलिए हम इस कथन से सहमत हैं, 'असली मोहन राकेश अपने उपन्यासों में छिपा है ।'[2] यद्यपि उस अन्तर्विरोधी व्यक्तित्व की असलियत को पाने का प्रयास अधूरा ही निकलेगा तथापि उपन्यासों में अभिव्यक्त राकेश को समझ लेना कोई कठिन बात नहीं होगी ।

---

1. नाटककार मोहन राकेश – सं॰ सुन्दरलाल कथूरिया – पृ॰26
2. पुष्पा बंसल – मोहन राकेश का नाट्य साहित्य – पृ॰ 5

राकेश का पहला उपन्यास है "अँधेरे बन्द कमरे" जिसका प्रकाशन 1961 में हुआ था । दूसरी शादी की कडुवाहट और उसकी पराजय जन्य मानसिक पीड़ा के कारण, "उन दिनों राकेश बहुत अनमने रहने लगे थे । "घर" शब्द से ही उन्हें डर लगने लगा था । न किसी से मिलने जुलने की इच्छा होती थी, न कहीं आने जाने की । ज्यों त्यों जिन्दगी का बोझ ढोये जा रहे थे । "अँधेरे बन्द कमरे" इसी मन:स्थिति में लिखा गया था और 45 दिनों में पूरा हो गया था[1] ।" वैयक्तिक और मानसिक स्वस्थता की तलाश में उन्होंने दूसरी शादी की थी । लेकिन जब वहाँ भी असंतोष और आतंक ही हाथ लगा तब उन्होंने स्वयं ही "अँधेरे बन्द कमरे" को चुन लिया । जहाँ रहकर अपने मानसिक अन्तर्द्वन्द्व का बहिष्करण किया । रचनाकार की अस्वस्थता का उद्वेलन है उनकी रचनाएँ । "अँधेरे बन्द कमरे" की नीलिमा और हरबंस की टकराहट उनकी अपनी टकराहट है क्योंकि उस समय राकेश भी भीतर से उदास और अप्रसन्न थे ।

जिस पात्र और नीलिमा के सम्बन्ध में कहते हुए उन्होंने ऊपरी प्रसन्नता और आन्तरिक खिन्नता का प्रतिपादन किया ही है । "....जिस समय मैंने यह कहानी या उपन्यास लिखा था उस समय मैंने अपने आस-पास लोगों को बराबर इसी तलाश में देखा है । मेरे ख्याल में यह मेरी उस समय की कहानियों, उपन्यासों में भी खासा स्पष्ट हो चुका है ऊपरी प्रसन्नता ? हाँ क्योंकि तब मैं ही उसे नहीं खोज सका था । मैं जानता हूँ कि कहीं भीतर से मैं सच ही एक उदास व्यक्ति हूँ[2] ।

राकेश के संपूर्ण साहित्य में यह उदास व्यक्ति ही भिन्न भिन्न वेश में वर्तमान है । अँधेरे बन्द कमरे का पत्रकार मधुसूदन कहीं भी स्वस्थ नहीं रह पाता अन्दर ही अन्दर वह उदास रह जाता है । अनिश्चितता की यंत्रणा से पीड़ित हो लक्ष्यहीन भटकनेवाला मधुसूदन राकेश के और एक पहलू को व्यक्त करता है ।

---

1. नाटककार मोहन राकेश - सं. सुन्दरलाल कथूरिया राजेन्द्र पाल का लेख - पृ.
2. मोहन राकेश - साहित्यिक और सांस्कृतिक दृष्टि - पृ.167

स्वतंत्रता और सुरक्षा के लिए लालायित राकेश के रचनात्मक अहं की वास्तविक छटपटाहट मधुसूदन में देख सकते हैं ।

इस उपन्यासमें स्वतंत्रता के पश्चात् का भारत चित्रित है । स्वातंत्र्योत्तर भारत की महानगरीय परिवेश में सांस्कृतिक हलचलों आडम्बरपूर्ण आन्दोलनों, पत्रकारों कलाकारों, लम्बी लम्बी बहसों, अखबारी रिपोर्टों के चित्रण के साथ साथ इसमें बहुत बड़ा संकेत है - भारतीय नगर के शिक्षित समुदाय की चेतना के प्रति ।

"अँधेरे बन्द कमरे" के हरबंस और नीलिमा एक दूसरे से कटे हुए हैं । दोनों में समझौते का सवाल ही नहीं उठता । एक दूसरे को समझने का प्रयत्न भी नहीं करते । तभी तो नीलिमा कहती है, "मैं इस रास्ते पर इतना बढ़ आई हूँ कि अब लौटकर उस तरह की गृहस्थीपन नहीं बन सकती जैसा कि तुम मुझे देखना चाहते हो[1] ।" नीलिमा के चरित्र के सम्बन्ध में राकेश ने स्वयं ही कहा है "बन्धनों में बिंध कर नीलिमा नहीं रहती । वह हरबंस से कटकर जीना चाहती है क्योंकि वह अनुभव करती है कि उसका "न होना" उसके "होने" से बेहतर है[2] ।" राकेश की प्रथम पत्नी की उक्ति से भी इसका समर्थन होता है । इसके लिए राजेन्द्र पाल का लेख पर्याप्त प्रमाण है ।

असीम स्वतन्त्रता चाहनेवाली अपने व्यक्तित्व पर अधिक ध्यान देनेवाली उस पहली पत्नी को तलाक दे कर अपने भीतर की जिजीविषा से प्रेरित राकेश जब एक और जिन्दगी जीने लगते हैं तो वहाँ भी उन्हें विधि के क्रूर हाथों का थपेड़ा सहना ही पड़ा । इन थपेड़ों से त्रस्त राकेश अपने मन के अँधेरे बन्द कमरे को इस उपन्यास में खोल देते हैं । अपने भोगे हुए यथार्थ की सशक्त व्याख्या राकेश की रचना की विशेषता है ।

1· मोहन राकेश - अँधेरे बन्द कमरे - पृ·203

2· मोहन राकेश - परिवेश - पृ·147

"न आनेवाला कल" दूसरा उपन्यास है जिसका प्रकाशन 1968 में हुआ । इसमें भी अपने जीवन की एक मार्मिक घटना का चित्रण है । फादर बर्टन स्कूल के माध्यम से राकेश ने उन तमाम लोगों की अभावग्रस्त जिन्दगी की रेखा खींची है जिसके वे स्वयं भागी थे । राकेश ने शिमला के बिशप कॉटन स्कूल में कुछ समय तक अध्यापन का काम किया था । लेकिन वहाँ के दमघोंटू वातावरण से विद्रोह करना उनके सहज विद्रोही मन के लिए कोई नई चीज़ नहीं थी । उन्होंने उस ओहदे से भी इस्तीफा दिया । "न आनेवाला कल" से स्पष्ट है कि वह किसी खास कल की प्रतीक्षा में था लेकिन अब मालूम हुआ कि वह कल न आनेवाला कल है । राकेश के शब्दों में 'यह एक ऐसा व्यक्ति है जो जिन्दगी में कुछ ढूँढ रहा है । लेकिन उसे पता नहीं है कि वह कैसे उसे प्राप्त करे"[1] ।

हर व्यक्ति अपनी मानसिक और परिवेशगत कठिनाइयों का सामना करते हुए न आनेवाले कल की प्रतीक्षा में रहता है । यहाँ मास्टर मनोज उन तमाम लोगों की प्रतीक है जो "न आनेवाला कल" की प्रतीक्षा करता रहता है । मास्टर मनोज अभी तक एक ऐसे कल की प्रतीक्षा में था जिसका एक भव्य रूप उसके मन में रुढ हो गया था । एक दिन उसको मालूम हुआ कि ऐसे कल के ख्याल ही व्यर्थ है और वह कल कभी न आने वाला कल है । यह मनोज जो उपन्यास को आगे ले जाने वाला है, स्वयं राकेश ही है । बिशप बर्टन स्कूल के दमघोंटू वातावरण से बचने केलिए वे इस्तीफा देते हैं । इस्तीफा के बाद उस स्कूल के चपरासी से लेकर हेडमास्टर तक के लोगों की विविध प्रतिक्रियाओं को भी उपन्यासकार सामने लाते हैं । 'यहाँ प्रत्येक व्यक्ति कल की प्रतीक्षा में है । कल कुछ ऐसा होने वाला है, जिसमें वह जिन्दगी से अपने पूरे हिसाब साफ कर सकेगा[2] ।"

---

1. मोहन राकेश - साहित्यिक और सांस्कृतिक दृष्टि - पृ.173
2. वही - पृ.174

ज़िन्दगी के अस्वस्थ वातावरण से मुक्ति पाने की छटपटाहट में व्यक्ति कुछ कर डालता है, पर उसके परिणामों पर उसका ध्यान नहीं जाता । उस समय मुक्ति ही उसका एक मात्र लक्ष्य होती है । उसके अन्दर एक सुन्दर भविष्य का मोह रह जाता है वह मोह सफल नहीं होता । जब मोह टूट जाता है तब व्यक्ति हताश और बेचैन हो जाता है । वह कहीं का नहीं रह जाता । यही बात "न आनेवाला कल" के मनोज के साथ भी हुई जो वास्तव में उपन्यासकार की अपनी निजी अनुभूति बन गई ।

अस्थिरता और निषेध राकेश के सभी पात्रों में है जो स्वयं राकेश के व्यक्तित्व के अभिन्न अंग है । इसलिए वे एक से विघटित होने पर दूसरे से जुड़ने की प्रक्रिया में लगे रहते हैं । "न आने वाला कल" में कोई महान घटना तो नहीं "एक साधारण सी घटना स्कूल के एक मास्टर का त्याग पत्र । बस इतने से ही हर चौहद्दी के अन्दर एक खल-बली सी मच गई । हर आदमी अपनी जगह परेशान हो उठा कि जिस खतरे से वह बचना चाहता था, वह शायद अब बिल्कुल सामने ही है ।"[1]

यहाँ के सभी लोग-हेडमास्टर से लेकर चपरासी फकीर की बीवी कासनी तक-उस पहाड़ी स्कूल में एक ही ज़िन्दगी के सहभागी होकर जी रहे थे । परन्तु साथ साथ जीते हुए भी वे सब इतने अकेले थे कि अपने और अन्यों के अकेलेपन को महसूस तक नहीं कर पाते थे । ऐसी स्थिति में मास्टर मनोज का इस्तीफा हर एक के भविष्य के सामने एक प्रश्न चिन्ह बन जाता है । तब हरएक को अपने अकेलापन का बोध होने लगता है । राकेश के सभी पात्रों में इस आत्मनिर्वासन का बोध गहरा है जो उनके आसपास के लोगों को भी अपने अस्तित्व के बारे में सचेत बनाता है ।

---

1. मोहन राकेश - न आनेवाला कल - भूमिका से

राकेश का तीसरा उपन्यास "अन्तराल" भी उनके जीवन के अन्तराल को चित्रित करता है । अपनी पहली शादी की पराजय ने उनकी आत्मा को अत्यधिक झकझोरा । अन्तराल का देव भी अपनी पत्नी के निषेधात्मक व्यवहार के कारण आन्तरिक रूप से क्षत-विक्षत है । देव के दाम्पत्य में पत्नी के अहं एवं पति को इस्तेमाल करने के उसके भाव का कैंसर हो गया था । "अन्तराल" की पत्नी श्यामा देव से विवाह करके अपने अहं को तुष्ट कर लेना चाहती थी और देव के स्वाभिमान को इस्तेमाल किए जाने की यह स्थिति स्वीकार्य नहीं थी । इसमें राकेश की प्रथम पत्नी के दम्भपूर्ण व्यवहार और उनके प्रथम परिणय की पराजय अनुरणित होती है।

अन्तराल

मोहन राकेश उस मिस्टर कुमार में भी है जो कस्बे के किसी कालेज में पढ़ाता है, कालेज की नौकरी छोड़कर वह और कोई नौकरी स्वीकार कर लेता है, फिर बम्बई में किसी पत्रिका का संपादक-भार स्वीकार कर लेता है । वह बड़े सोच विचार के पश्चात एक गुप-चुपी सी लड़की से विवाह कर लेता है । किंतु छः महीने भी निभ नहीं पाये थे । और वह उससे अलग रहने लगता है ।

राकेश ने अपने को व्यक्त करते हुए कहा भी था कि वह एक अलमस्त व्यक्ति है साथ ही साथ ईमानदार भी । इसलिए उन्होंने मानव सम्बन्धों की ईमानदारी की तलाश भी अन्तराल के अन्दर करनी चाही है । जीवन में शारीरिक अपेक्षाओं के अलावा भी कुछ ऐसी अपेक्षाएं होती हैं, जिनको पाने केलिए मानव संत्रास का अनुभव करता है । शारीरिक सम्बन्ध उन्हें बहुत कुछ मिला था लेकिन उनकी खोज कुछ भिन्न वस्तु की थी । वह और कुछ चाहते थे । उसकी तलाश उन्होंने अपनी पूरी जिन्दगी में की । लेकिन वह कहीं भी नहीं मिली ।

अन्तराल में अभाव शारीरिक नहीं मानसिक है जिसको भरने के लिए देव शराब का सहारा लेता है । देव की मृत्यु के बाद श्यामा, कुमार के व्यक्तित्व का सहारा लेती है कुमार श्यामा के व्यक्तित्व का । अपनी मुश्किलों और तकलीफों के सन्दर्भ से क्षणिक मुक्ति पाने के लिए बियर की बोतलों को भरना राकेश के चरित्र का एक अंग था ही ।

आम तौर पर राकेश के उपन्यासों पर विचार करते समय यह बात स्पष्ट होती है कि पारिवारिक टूटन के कारण असुरक्षा का बोध उन्हें बाधित करता है । यह असुरक्षा-बोध आगे कई प्रकार के तनावों का कारण बनता है । तनाव फिर संत्रास और बाद में अकेलापन में परिवर्तित होकर व्यक्ति को अर्धविक्षिप्तता के कगार पर छोड़ देता है । "जीवन की अपनी यात्रा में उसे वही सभी झेलना था, जिससे वह उबरना चाह रहा था"[1] कहने की आवश्यकता नहीं कि राकेश का व्यक्तित्व उनके लेखक व्यक्तित्व से अलग नहीं है । उनका पूरा स्वभाव, सोचने का ढंग, कार्य-व्यापार, संपूर्ण दृष्टि और गति उनके साहित्य में देखी जा सकती है ।

नाटकों के माध्यम से ही राकेश अपनी वैयक्तिकता को स्थापित करने में अधिक सफल दिखते हैं । अपने नाटकों कहानियों औरउपन्यासों में उनके संकीर्ण व्यक्तित्व के विविध पक्ष देखने को मिलते हैं ।

राकेश का पहला नाटक "आषाढ़ का एक दिन" हिन्दी नाटक क्षेत्र में एक नयी घटना के रूप में अवतरित हुआ था । उसका कालिदास स्वयं राकेश ही है । इस नाटक के माध्यम से राकेश स्वतन्त्र लेखन की अनिवार्यता को और आश्रित लेखन की विडंबना को प्रस्तुत करना चाहते हैं । "मैं इस नाटक में आज के लेखक की द्विविधा को चित्रित करना चाहता था ।"[2] यह द्विविधा वही है

आषाढ़ का एक दिन

---

1. डॉ. उर्मिला मिश्र - आधुनिकताबोधऔर मोहन राकेश - पृ.94
2. मोहन राकेश - साहित्यिक और सांस्कृतिक की दृष्टि - पृ.164

जिसे राकेश ने कालिदास के माध्यम से प्रस्तुत किया है । आधुनिक लेखक की विडंबना का शिकार बन कर आहत हृदय के साथ वापस आनेवाला कालिदास वास्तव में राकेश है । अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता कलाकार के लिए अनिवार्य है । कालिदास का मिथकीय प्रस्तुतीकरण इस अनिवार्यता-बोध को जीवन्त बना डालता है ।

दूसरा नाटक है "लहरों के राजहंस" । इसमें राकेश का प्रतिनिधि है नन्द । नन्द के द्वन्द्व में राकेश की पूरी जिन्दगी का इतिहास निहित है । वे घर, परिवार, पत्नी सब कुछ चाहते थे पर पूरी तरह से शायद कुछ भी नहीं चाहते थे । जीवन में कुछ भी पूर्ण रूप से उन्हें नहीं मिला । प्रयत्न करने पर भी टूट टूट कर हार खाना ही पड़ा । एक बार उन्होंने राजेन्द्रयादव से कहा "तुम जिन्दगी में अच्छे बेटे बन सकते हो, अच्छे बाप बन सकते हो, या फिर कुछ कर सकते हो । मैं अच्छा बाप, अच्छा पति बनने और जिन्दगी में कुछ कर लेने के बीच त्रिशंकु की तरह लटक रहा हूँ[1] ।" हाँ ठीक है, कालिदास, नन्द और महेन्द्र भी त्रिशंकु थे । लहरों के राजहंस लिखते समय राकेश एक नये प्रेम सम्बन्ध में उलझे हुए थे, पीछे वह शादी में परिणत हो गया । तीसरी शादी अनीता के साथ । "लहरों के राजहंस" के नन्द में पहले सुन्दरी के प्रति जो तीव्र आकर्षण दिखाई पड़ता है वह बाद में मंद पड़ जाता है । यह चरित्र राकेश में सहज ही निहित है । पूर्णता की तलाश और अपूर्णता का वरण यही मनुष्य की नियति है ।

तीसरे नाटक "आधे अधूरे" में भी महेन्द्र का स्थान असली राकेश का ही है । विघटन के बीच स्थित महेन्द्र और राकेश में कोई फ़र्क नहीं दीखता ।

आधे अधूरे

"आधे अधूरे" के सम्बन्ध में वे लिखते हैं "यह इस शहर के एक मध्यवर्गीय परिवार की कहानी है जिसे परिस्थि विघटन की ओर धकेलती जा रही हैं[2] ।"

1· नाटककार मोहन राकेश - सं· सुन्दरलाल कथूरिया - पृ·28

2· मोहन राकेश - साहित्यिक और सांस्कृतिक दृष्टि - पृ·172

पैर तले की ज़मीन

अपने चौथे तथा अन्तिम नाटक "पैर तले की ज़मीन" में मौत के सामने खड़े होने पर भी वहाँ से बचने की कोशिश करनेवाले कुछ पात्रों का चित्रण राकेश ने किया है। "पैर तले की ज़मीन" में वे अपने नाटककार को पहले से अधिक उभार नहीं पाये है। आत्म साक्षात्कार का प्रश्न राकेश के साहित्य का केन्द्र प्रश्न है। पुरुष की पूर्णता क्या है ? वह किस पर निर्भर करता है, पूर्णता कैसे उपलब्ध हो सकती है ? पूर्णता की तलाश में पुरुष-जीवन की त्रासदी किन-किन प्रकारों में घटित होती है, इन प्रश्नों को "पैर तले की ज़मीन" में भी उठाया गया है। मृत्यु के सामने मनुष्य बेहद भयभीत हो जाता है। फिर भी वह अपनी सहज कुत्सित वासनाओं से मुक्त नहीं हो पाता। पैर तले की ज़मीन में मनुष्य की आसन्न मृत्यु की ओर भी संकेत हुआ है।

ज़िन्दगी के एकान्त पथिक

ज़िन्दगी भर स्वतंत्रता के लिए लड़ते लड़ते, हार खाते रहने के कारण राकेश में अन्तर्मुखी व्यक्तित्व विकसित होने लगा। अन्तर्मुखी व्यक्तित्व के मूल में असुरक्षा बोध निरन्तर सक्रिय रहा। अपनी अनुभूति की तीव्रता को रचनाओं के माध्यम से व्यक्त करते हुए केवल क्षणिक मुक्ति ही वे पा सके। "मेरे लिए अनुभूति का सीधा सम्बन्ध मेरे यथार्थ से है और यथार्थ है मेरा समय और परिवेश व्यक्ति से परिवार तक का पूरा परिवेश। मैं इनमें से किसी एक से कटकर शेष से जुड़ा नहीं रह सकता - अपने पास के सन्दर्भों से आँख हटाकर दूर के सन्दर्भों में जी नहीं सकता[1]।" यही कारण है कि व्यक्तिगत संवेदना जन्य अकेलापन राकेश की रचना का मूल स्रोत बन गया है। लेकिन यह अकेलापन अहंवादी नहीं है। मसलन राकेश ने जिस आत्मनिर्वासन का चित्रण किया है वह एक विशाल परिवेश की अपेक्षा रखता है। उस विशाल परिस्थिति के सम्बन्ध में पहले ही कहा जा चुका है।

---

1. मोहन राकेश - परिवेश - पृ.203

राकेश ने अपनी रचनाओं के माध्यम से जो संवेदना, जो संस्कार हमें सौंपा है वह आज के त्रासद और संत्रस्त मानव के अकेलापन से उद्भूत अवश्य है। गोया कि, इस समस्या को समझने और भोगने केलिए उन्हें कहीं दूर भटकने की आवश्यकता नहीं पड़ी है। उनकी परिस्थिति बदल गयी, फिर भी वही परिस्थिति फिर से आती हुई दिखाई देती है जिससे वे हमेशा बचना चाहते हैं "मैं जो बात बताना चाहता हूँ वो यह है कि अपनी परिस्थिति केलिए व्यक्ति अकेला जिम्मेदार नहीं होता, क्योंकि स्थितियाँ कुछ भी होती उसे बार-बार उसी का चुनाव करना पड़ता। जिन्दगी में व्यक्ति कुछ भी चुने उसमें एक विशेष "आवृत्ति" होती है, क्योंकि परिस्थितियाँ फिर फिर वही बन जाती हैं[1]।" चुनाव राकेश ने जिन्दगी भर किया था लेकिन वह उनके जीवन में आवृत्ति के रूप में बार-बार होता ही रहा। टूटना और बिखरना राकेश के जीवन में एक आवृत्ति बन गया था। इसलिए वह अपने को अधिकाधिक असुरक्षित और आत्मनिर्वासित महसूस करते थे। "व्यक्ति आज अपने को पूरी तरह असुरक्षित महसूस करता है और यही कारण है उसके अन्दर एक क्रियात्मक अस्वीकार भावना के उत्तरोत्तर बढ़ते जाने का[2]।" इस असुरक्षा और अस्वीकार को राकेश ने एक व्यापक सन्दर्भ में देखा परखा है। इसलिए वह व्यक्ति के सीमित दायरे से दूर हटकर समसामयिकता के व्यापक सन्दर्भ में भी संगत और सार्थक बन जाता है। दूसरों को भी अपनी असुरक्षित अवस्था के प्रति सचेत बनाने की उनकी रचनाओं की क्षमता आश्चर्यजनक है।

मिटे हुए कल के तिक्तानुभवों को सहते हुए वर्तमान में भविष्य के प्रति आस्था रखने वाले राकेश जिन्दगी भर अकेले थे। लेकिन उनकी भोगी हुई यंत्रणाओं से उत्पन्न रोग का बहिस्फुरण है। "हम जानते हैं कि कई मानसिक रोग दबे हुए विचारों और अनुभूतियों की प्रतिक्रिया के रूप में जन्म लेते हैं। वे रोग उनकी

---

1. मोहन राकेश - साहित्यिक और सांस्कृतिक दृष्टि - पृ.173
2. मोहन राकेश - बकलम खुद - पृ.140

अभिव्यक्ति ही है[1]।" हाँ, ठीक है राकेश में पिता की मृत्यु, अपनी जिन्दगी की पराजय, भारत की स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद की स्थिति, विभाजन आदि की प्रतिक्रिया-जन्य कटु अनुभवों से जो मानसिक रोग उत्पन्न हुआ था उसकी बाह्याभिव्यक्ति ही उनकी रचनाएं हैं। अतीत और वर्तमान में उन्हें कभी भी चैन नहीं मिला। इसलिए वे भविष्य के प्रति अधिक आस्थावान रहे। अतीत और वर्तमान से असन्तुष्ट होकर भविष्य की ओर आँखे गाढते हुए राकेश के प्रयाण के पीछे बिल्कुल भारतीय परिवेश से उत्पन्न आत्मनिर्वासन ही प्रेरक रहा। अतः राकेश में पाश्चात्य अस्तित्व चिन्तन का प्रभाव ढूंढना उनके प्रति अन्याय ही होगा

पाश्चात्य अस्तित्ववादी चिंतन के पीछे भयानक मृत्युबोध था। उसकी एक सशक्त दार्शनिक पृष्टभूमि भी है। अतः उधर के साहित्य में जो अकेलापन दृष्टिगोचर होता है वह उस मृत्यु बोध से पीड़ित उन शरणार्थियों का अकेलापन है जिसे एक दार्शनिक परिवेश में देखने का कार्य पाश्चात्य साहित्यकारों ने किया है जहाँ तक भारतीय परिवेश का सम्बन्ध है "आज़ादी मिलते ही जो भयंकर रक्तपात और संहार हुआ, उसमें शरणार्थियों के काफिले ही नहीं आये बल्कि अपने देश, घर, परिवार में ही स्वयं आदमी शरणार्थी बन गया। ऊपरी सतह पर तो विकलांग और भयभीत शरणार्थी सीमाओं के पार से आये थे, पर आन्तरिक स्तर पर एक बहुत बड़ा समुदाय शरणार्थी बन गया था। .... इसलिए देशों की सीमाएं पार करनेवाले शरणार्थियों से भी ज्यादा शरणार्थी वे थे, जिनके मानवीय मूल्यों की हत्या हो गयी थी[2]।" राकेश का जीवन इन्हीं अनुभूत सत्यों से अनुप्राणित है इसलिए राकेश ने जिस अस्तित्व दुःख को भोगा था वह भीड़ में अपने को अकेले पाने की स्थिति से उत्पन्न था जो बिल्कुल भारत की मिट्टी से संबन्ध रखता है।

---

1. मोहन राकेश - परिवेश - पृ.73
2. कमलेश्वर-नयी कहानी की भूमिका - पृ.58-59

राकेश के आत्मनिर्वासन और संत्रास के पीछे अनास्था का स्वर नहीं है । "जिन्दगी में बहुत कुछ है जिसके प्रति विद्रोह और आक्रोश मेरे मन में है, पर वह सब जिन्दगी के ऐतिहासिक उफान के अन्तर्गत आता है[1] ।" जिन्दगी को निष्क्रिय बनानेवाले पाश्चात्य अकेलापन राकेश में नहीं है । अपने माहौल की सही स्थिति से अवगत होकर अपने अकेलापन को महसूस करते हुए भविष्य के प्रति आस्था रखनेवाले राकेश और उनके पात्रों में सिर्फ भारतीय परिवेश जनित अकेलापन ही मौजूद है ।

पश्चिम के अकेलापन को लेकर भारतीय सन्दर्भ में लाना राकेश के मत में तो बिल्कुल फैशन है, "लोग बहुत फैशन हैं । अकेलापन, अजनबीपन और आत्महत्या इन्हें फैशनबल चीज़ें समझते हैं[2] ।" साफ है कि राकेश में जो आत्मनिर्वासन है वह फैशनेबल नहीं है । "..... यह अकेलापन जूझने की एक स्थिति है, किसी तरह का अलगाव नहीं । यह जिन्दगी से अकेला होना नहीं, जिन्दगी के बीच अकेला पड़कर अपने जुड़े होने का निर्वाह करना है[3] ।" इस जुड़े रहने की चाह ने राकेश को जिन्दगी भर एक यायावर का जीवन बिताने केलिए विवश किया ।

सोलह साल की उम्र से शुरू हुई घर की तलाश वे चौंतालिस वर्ष की आयु तक निरन्तर करते रहे । जिन्दगी के थपेड़ों को सहते हुए अथक, अन्तिम क्षण तक राकेश अकेले ही जिन्दगी से जूझते रहे । जिन परिस्थितियों ने उन्हें निर्मोही और अजनबी बना दिया था उन्हीं परिस्थितियों ने अल्पायु भी । 47 वर्ष की आयु में 2 दिसंबर, 1972 – उनकी असामयिक मृत्यु हुई । अनीता लिखती है "राकेश जी चले गये हैं .... इसका दुःख इसलिए इतना नहीं था कि मुझे और बच्चों को अकेला छोड़ गये .... बल्कि इसलिए कि उन्हें जीने का शौक था..... उन्हें जिन्दगी से बहुत मोह था । वही एक व्यक्ति था जिसे जीना आता था

---

1. मोहन राकेश – परिवेश – पृ.157
2. वही – पृ.116
3. वही – पृ.159

जिसने लोगों को जीना, हंसना, खेलना, सिखाया था[1]।" अनीता के इन शब्दों में राकेश की अदम्य जिजीविषा व्यक्त होती है। उस आत्मनिर्वासित आदमी की विडम्बना यह थी कि वे जिन्दगी को पूरी तरह से जीना चाहते थे। अतः उनमें असाधारणत्व की छाप पड़ी ही नहीं। इस साधारणत्व के बीच में ही वे संत्रस्त रहे इसलिए उनके व्यक्तित्व में नयापन भी है। "नया आदमी, हाँ, नया आदमी। कोई विशिष्ट पात्र नहीं, साधारण आदमी[2]।" यह नया आदमी- बिल्कुल साधारण, सबों को परिचित पर अपरिचित, सबों के साथ रहने वाला बल्कि आत्मनिर्वासित - हमेशा नया ही रहेगा।

राकेश ज़िन्दगी भर आत्मनिर्वासित थे। समाज में एक सचेत नागरिक के रूप में दूसरों से कटे हुए थे। जगत की वास्तविकताओं के कठोर प्रताड़नों से वे लहरों पर तैरने वाले राजहंस के समान अस्थिर रहे हैं। सृजन के क्षण में वे लेखकीय स्तर पर आत्मनिर्वासित थे। राकेश के जीवन और साहित्य के समग्र अध्ययन के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि वे पूर्णतः आत्मनिर्वासित व्यक्तित्व हैं।

निष्कर्ष

1. राकेश का व्यक्तित्व अपने आप में अजीब है। उनके निकट सम्बन्ध में रहने वाले आदमी भी उनको पूर्ण रूप से समझने में प्रायः असमर्थ मिलते हैं।

2. राकेश अपने जीवन में कभी भी स्थिर नहीं रह सके हैं। वे कहीं भी बंद रहना नहीं चाहते थे।

3. ज़िन्दगी की क्षणिकता और निरर्थकता को समझते हुए भी राकेश जीवन के प्रति आस्थावान थे।

---

[1] अनीता राकेश - चन्द सतरें और - पृ.96

[2] मोहन राकेश - पृ.परिवेश - पृ.159

4. राकेश अर्थ के उपासक थे। कुछ दर्दनाक घटनाएं उनके अन्तर्विरोधी व्यक्तित्व के निर्माण की प्रेरक शक्तियां रही हैं।

5. आघातों पर आघात सहने केलिए अभिशप्त थे राकेश। बाल-सहचरी की मृत्यु के बाद, विभाजन के परिणाम स्वरूप वे अपने परिवेश से उखाड़ फेंक दिए गए।

6. जीवन के प्रति राकेश की आस्था अडिग थी इसलिए उन्होंने एक और ज़िन्दगी जीने का निश्चय किया।

7. वैवाहिक जीवन में भी राकेश स्वस्थता और शांति का अनुभव नहीं कर पाए। राकेश का साहित्य उनके व्यक्तिगत जीवन का दर्पण है।

8. राकेश की डायरी के अनुसार उनकी पहली कहानी है भिक्षु। लेकिन पहली लिखित कहानी नन्हीं है।

9. अधिकांश कहानियों में उनकी जिजीविषा तथा जीवन संघर्षों का आयाम पाया जाता है।

10. पारिवारिक जीवन की असफलता उनकी अनेक रचनाओं में स्फुरित होती है।

11. कहानियों में व्यक्त राकेश अपूर्ण है। वास्तविक राकेश का रूप उपन्यासों और नाटकों में पाया जाता है।

12. नाटकों में राकेश का अन्तर्द्वन्द्व मिलता है और उपन्यासों में उनका जीवन।

13. राकेश ने अपनी रचनाओं के माध्यम से जो संवेदना जो संस्कार हमें सौंपा है वह आज के त्रासद और संत्रस्त मानव के अकेलापन से उद्भूत है।

14. पाश्चात्य अस्तित्ववादी चिंतन के पीछे जो आसक्त मृत्युबोध पाया जाता है वह राकेश में नहीं है।

15. उनके साहित्य का सम्बन्ध अनुभूत सत्यों से है और वह भारतीय परिवेश की उपज है।

उपसंहार

उपसंहार

मोहन राकेश की रचनाएं पाठकीय संवेदना को झकझोरने में सक्षम हैं। समकालीन रचनाओं से भिन्न एक अतिसूक्ष्म मानवीय धरातल को अपनाने के कारण उनकी कृतियाँ पाठकीय मन पर गहरा और प्रबल प्रभाव डालने में समर्थ है। हमें यह मानना पड़ता है कि उनकी रचनाओं का एक वस्तुवादी चौखटा है। पर साथ ही साथ एकान्तिक स्थितियों के अंतरंग में मनुष्य के अस्तित्व संबन्धी जटिलताएं भी उनमें वर्तमान हैं। राकेश अपनी युवावस्था के प्रारंभ से लेकर इन्हीं जटिलताओं के सम्बन्ध में सोचते रहे। इनके सामाजिक पक्ष पर उन्होंने चिंतन किया था और उसके वैयक्तिक आयाम को उन्होंने स्वयं झेला था। संभवतः यही कारण है कि उनकी रचनाओं में अनुभव का एक तीव्र बोध और तज्जन्य अकुलाहट स्पन्दित है।

स्वातंत्र्योत्तर साहित्यिक पुनरुत्थान के उपरान्त नए नए आन्दोलनात्मक कार्यों के साथ राकेश का गहरा संबन्ध रहा है। चाहे वह नई कहानी आन्दोलन हो थियेटर मूवमेंट हो या आधुनिक सिनेमा राकेश ने अपने को सब कहीं पाया है। सबसे वे जुड़े रहे। सब की संभावनाओं के प्रति वे सचेत भी थे। समानान्तर अध्ययन और अध्यवसाय से भी वे पीछे नहीं हटे। इन सब कारणों से यह निष्कर्ष निकालना आसान है कि राकेश का व्यक्तित्व प्रबल और प्रखर है। इतने पर भी जैसा कि उनके अभिन्न मित्रों ने अपने आत्मीय संस्मरणों में सूचित किया है, राकेश को एकांत पसंद था।

साहित्यकार का यह एकांत उसे स्वयं को अभिव्यक्त करने केलिए अपनी पहचान को विस्मीकृत करने केलिए विवश कर डालता है । बाहर अपनी पूरी नाटकीयता के साथ प्रस्तुत होनेवाले राकेश के अन्दर एक सिमटा हुआ व्यक्ति है जो अपनी छलती अस्मिता से दुःखी है, संत्रस्त है । राकेश ने अपनी इस अवस्था की सूचना कई अवसरों पर दी है । वस्तुतः यह व्यक्तिबद्ध चिंतन नहीं है बल्कि व्यापक है । इसी चिन्तन के परिप्रेक्ष्य में राकेश को देखा गया है तथा राकेश की रचनाएं आंकी गयी हैं ।

"आत्मनिर्वासन शब्द का सम्बन्ध दर्शन और समाजशास्त्र दोनों से है । साहित्यिक रचनाओं में आत्मनिर्वासित अवस्था आजकल एक अनिवार्यता स्वीकृत की गई है । कईओं ने दोनों पक्षों के सन्दर्भ में विशेष मानसिक अवस्था का अध्ययन किया है । राकेश में भी ये दोनों सन्दर्भ प्राप्त है । मूल प्रश्न यह है कि इन दोनों सन्दर्भों को क्यों उन्होंने प्रश्रय दिया है ।

घोर राजनीतिक एवं सामाजिक विघटन के बीच व्यक्ति जीवन ध्वस्त हो रहा है । यह ध्वंस राकेश के व्यक्ति जीवन का एक अनिवार्य अंग बन गया है । उनकी रचनाओं के सूक्ष्म अध्ययन से, लगता है, ध्वंसीकरण का यह विराट रूप बीच बीच में उन्हें कचोट रहा है । एक कसक सी वह रंग गई है । शायद राकेश उससे मुक्त नहीं हो पाया ।

ध्वंस के इस पहलू को राकेश ने फिर से सान्द्र बनाया है । मानवीयता साथ उसे मिलाते हुए जीवन की विसंगति के सन्दर्भ में उसे देखा है । इससे उनकी प्राय सभी रचनाओं में एक दार्शनिक आयाम उभर आता है । जुड़ने के आग्रह के साथ जब व्यक्ति अग्रसर होता है और उसे जब विलगाव ही प्राप्त होता है तो ऐसी अवस्था में आत्मनिर्वासन अनिवार्य हो जाता है । इसी अनिवार्यता को एक परोक्ष नियतिवादी तत्त्वज्ञान के भीतर उन्होंने देखा है । इसलिए उनके पात्र ही आत्मनिव नहीं बल्कि स्वयं वे ही आत्मनिर्वासित बन गए हैं ।

आन्तरिक यथार्थ को स्वर देने के कारण आत्मपरक व्यवस्था से बिम्बित है उनकी रचनाएं। लेकिन कईयों ने इस आत्मपरता को अनदेखा किया है। उनके अनुसार मात्र वही सामाजिक पहलू प्रमुख है, जो राकेश में कहीं कहीं उपलब्ध है। यह सही है कि सामाजिकता भी एक सन्दर्भ है। लेकिन राकेश के सन्दर्भ में सामाजिकता से बढ़कर जीवन के सूक्ष्मतम विसंगतियां ही प्रमुख हैं जहां आत्मनिर्वासन एक अनिवार्य परिणति है।

मूल्य विघटन का एक पहलू भी आत्मनिर्वासन के साथ जुड़ा हुआ है। राकेश के पात्र विघटित मूल्यों के शिकार हैं। इसलिए अपने भीतर वे रिक्तता का अनुभव कर रहे हैं। मूल्य की इस विघटनात्मक स्थिति ने इन रचनाओं में एक और संकट की स्थिति भी उत्पन्न कर दी है। मूल्य सम्बन्धी सचेत चिंतन यह भी उसकी एक अनिवार्य परिणति है। त्रासदीय चेतना इसका परिणाम है।

वस्तुत: इन्हीं कारणों से राकेश की रचनाएं हिन्दी के सीमित वृत्त से ऊपर उठती हैं। विश्वमानवीयता में व्यापी हुई त्रासदीय चेतना के आनुषंगिक पहलू के रूप में उनका साहित्य आंका जाना चाहिए। हमने यही दृष्टि इस प्रबन्ध में अपनाई है।

संदर्भ - ग्रन्थ सूची

मोहन राकेश की रचनाएं

1. नाटक

1.	अण्डे के छिलके एकांकी तथा अन्य बीज नाटक	राधाकृष्ण प्रकाशन : पहला संस्करण
2.	आधे अधूरे	राधाकृष्ण प्रकाशन छठा संस्करण
3.	आषाढ़ का एक दिन	राजपाल एण्ड सन्स: तीसरा संस्करण 1975
4.	पैर तले की ज़मीन	राजपाल एण्ड सन्स पहला संस्करण 197[illegible]
5.	रात बीतने तक तथा अन्य ध्वनि नाटक	राधाकृष्ण प्रकाशन : पहला संस्करण
6.	लहरों के राजहंस	राजकमल प्रकाशन:परिवर्धित संस्करण 1965
7.	उपन्यास अन्तराल	राजकमल प्रकाशन : प्रथम संस्करण,19
8.	अंधेरे बन्द कमरे	राजकमल प्रकाशन प्रथम संस्करण,19
9.	न आने वाला कल	राजपाल एण्ड सन्स : दूसरा संस्करण 1970
10.	कहानी : एक और ज़िन्दगी [कहानी संकलन]	राजपाल एण्ड सन्ज़ - प्रथम संस्करण, 1961
11.	एक घटना - कहानी संकलन	राजपाल एण्ड सन्ज़, प्रथम संस्करण,
12.	क्वार्टर "	राजपाल एण्ड सन्ज़, प्रथम संस्करण,
13.	जानवर और जानवर "	राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण,19

14॰	पहचान - कहानी संकलन	अक्षर प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1966
15॰	फौलाद का आकाश - कहानी संकलन	अक्षर प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1966
16॰	मेरी प्रिय कहानियाँ ,,	अक्षर प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1966
17॰	रोयें रेशे ,,	राधाकृष्ण प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 196
18॰	वारिस ,,	राजपाल एण्ड सन्ज़, प्रथम संस्करण, 19
19॰	विविध - आखिरी चट्टान तक	,,
20॰	परिवेश	,,
21॰	बकलमखुद	राजपाल एण्ड सन्ज़, प्रथम संस्करण, 1974
22॰	मोहन राकेश:साहित्यिक और सांस्कृतिक दृष्टि	,,

आलोचनात्मक ग्रंथ

23॰	पश्चाई नाट्य परम्परा	डा॰ रामसेवक सिंह, व अक्षर प्रकाशन, पहला संस्करण, 1970
24॰	अठारह सूरज का पौधा	रमेश बक्षी
25॰	अस्तित्ववाद दार्शनिक तथा साहित्यिक भूमिका	डॉ॰ लालचन्द्रगुप्त मंगल अनुपम प्रकाशन पटियाला, पहला सं॰ 1977
26॰	अस्तित्ववाद और द्वितीय समरोत्तर हिन्दी साहित्य	डॉ॰ श्यामसुन्दरमिश्र, विद्याप्रकाशन मन्दिर, पहला संस्करण, 1971ई॰
27॰	आईने के सामने	सं॰मोहन राकेश अक्षर प्रकाशन, आवृत्ति 1966

28·	आत्मनेपद	अज्ञेय भारतीय ज्ञानपीठ, पहला सं॰1960
29·	आधुनिक नाटक का मसीहा मोहन राकेश	डॉ॰ गोविन्द चातक
30·	आधुनिक परिवेश और नवलेखन	डॉ॰ शिवप्रसाद सिंह
31·	आधुनिकता के रचनासन्दर्भ	डॉ॰ श्यामानन्दन शर्मा, ग्रन्थम प्रकाशन
32·	आधुनिकता और मोहन राकेश	डॉ॰ उर्मिला मिश्र
33·	आधुनिकता और समकालीन उपन्यास	डॉ॰ इन्द्रनाथ मदान
34·	आधुनिकता और हिन्दी साहित्य	डॉ॰ इन्द्रनाथ मदान
35·	आधुनिकता बोध और आधुनिकीकरण	डॉ॰ रमेश कुन्तल मेघ, अक्षर प्रकाशन, पहला सं॰1969
36·	आलवाल	अज्ञेय राजकमल प्रकाशन, पहला संस्करण,197
37·	चंद सतरें और	अनीता राकेश राधाकृष्ण प्रकाशन, पहला संस्करण, 1975
38·	तार सप्तक	अज्ञेय भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन दूसरा संस्करण,1966
39·	द्वितीय महायुद्धोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास	डॉ॰ लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय राजपाल एण्ड सन्ज़, पहला संस्करण 1973
40·	नई कहानी की भूमिका	कमलेश्वर शब्दकार, पहला संस्करण, 1978

41·	नई कहानी सन्दर्भ और प्रकृति	सं·देवीशंकर अवस्थी
42·	नदी के द्वीप	अज्ञेय
43·	नाटककार मोहन राकेश	सं·डॉ· सुन्दरलाल कथूरिया
44·	भवन्ती	अज्ञेय
		राजपाल एण्ड सन्स, पहला सं·1972
45·	मानवमूल्य और साहित्य	डॉ· धर्मवीर भारती
46·	मुक्तिबोध ग्रंथावली भाग-4	सं· नेमीचन्द्र जैन
		राजकमल प्रकाशन, पहला सं·1980
47·	मेरा पन्ना	कमलेश्वर
		शब्दकार, पहला संस्करण, 1978
48·	मोहन राकेश का नाट्य साहित्य	डॉ· पुष्पा बंसल
49·	रंगमंच	बलवन्त गार्गी
		राजकमल प्रकाशन, पहला संस्करण,19
50·	विषाद योग	सुरेन्द्रनाथ राय
		नेशनल पब्लिशिंग हाउस, पहला सं·1
51·	शेखर एक जीवनी भाग-दो	अज्ञेय
		सरस्वती प्रेस, बनारस, पाँचवाँ संस्क
		1961
52·	साहित्य और आधुनिक युग बोध	डॉ· देवेन्द्र इस्सर
		पहला संस्करण, 1973
53·	सिक्का बदल गया	सं· नरेन्द्र मोहन
		सीमान्त प्रकाशन, पहला संस्करण,19
54·	हिन्दी उपन्यास पहचान और परख	सं·इन्द्रनाथ मदान
		लिपि प्रकाशन, पहला सं·1975

ENGLISH

55	A critical History of Greek Philosophy	W.T. Stace Macmillan, 1967
56	A History of French Literature	K.I. Cazamian Oxford University Press E.C. 4 1966
57	Alienation	Richard Schacht George Allen & Unwin Ltd London 1971
58	A survey of French Literature	Morris Bishop Harcourt, Brace & World 1965
59	Being And Having	Gabriel Marcel The Beacon press, Boston 1951
60.	Being And Nothingness	Sartre Trans: Hazel Barnes. New Yourk 1956
61	Drama From Ibsen to Brecht	Raymond Williams Chatto & Windus Ltd. London - 1971
62	On Christianity: Early Theological Writings	G.W.F. Hegel Trans.T.M.Knox and Ricl Kener London, Harper 1948
63	Economic and philosophic Manuscripts of 1844	Karl Marx Progress Publishers, M XII printing 1967
64	Essays in Aesthetics	Sartre
65	Existence And Being	Martin Heidegger Vision press Ltd. London 1949
66	Existentialism	John Macquarrie Penguin Books. 1973
67	Existentialism and Humanism	Sartre Methuen And Co. Ltd. London 1960
68	Freedom At Midnight	Larry Collins And Do Lapierre Vikas Publishing Hou Pvt. Ltd. New Delhi.
69	History of the Freedom Movement in India Vol. III	R.C. Majumdar Published by Firma K Mukhopadhyay.1963 Calcutta 12

70	History of Freedom Movement in India Vol.IV	Tarachand Publication division of Information and Broadcasting. Govt. of India No.72.
71	Indian Literature Since Independence	Sahitya Akademi New Delhi First published. 1973
72	International Encyclopaedia of Social Sciences Vol.1-2	Ed.David L. Sills The Macmillan Company to the free press New York
73	Last Days of British Raj	Mosley Leonard
74	Literary Modernism	Irving Howe Fawcett Premier World Library Dec. 1967
75	Lend Sundays Journe in to Night	Eugene O' Neil
76	Marx's Interpretation of History	Melvin Rader Oxford University Press New York 1979
77	Marxism, Communism And Western Society - A Comparative Encyclopaedia Vol. I	Ed.by C.D. Kering Herder And Herder New York
78	Moder Hindi short story	Ed.by Mahendra Kulasresta National Publishing House, New Delhi 1974
79	Modernity and Contemporary Indian Literature	Indian Institute of Advance study First Edition - 1968
80.	Nausea	Satre
81	On Alienation	Arnold Kaufmann 1965
82	Phenomenology of Mind	Hegel Trans. J.B. Baillie II Edi Macmillan, New York 1949
83	Principles of Literary Criticism	I.A. Richards Routledge & Kegan Paul Ltd. London
84.	Sartre And Marxism	Pietro Chiodi Trans. Katesoper The Harvester Press Ltd.
85	Socrates to Sartre : A History of Philosophy	Samuel Enoch Stumpf McGraw-Hill Book Company New York 1966

86.	Systematic Theology. Vol.II	Tillich, Paul London 1955
87	The Absurd	Arnold P. Hinchlief
88	The Balcony	
89	The Castle	Franz Kafka
90	The Existentialist concept and Dr. G. Srinivasan the Indian Philosophical systems	
91	The Fall	Albert Camus
92	The Joyful Wisdom	M Friedrich Nietzsche Trans. Thomas Common Edinburgh, London and New York - 1918.
93	The Lesson	Eugene Ionesco
94	The Modern writes And His World	G.S. Fraser London, 1953
95	The Myth of sisyphus	Albert Camus
96	The New Encyclopaedia Britanica Vol. No.I	The University of Chicago
97	The Orgin And Goal of History	Karl Jaspers Trans. Michael Bullock New Haven and London 1953
98	The outsider	Albert Camus
99	The plauge	"
100	The Rebel	"
101	The Rhinoceros	Eugene Ionesco
102	The Theatre of the Absurd	Martin Esslin Penguine Books Ltd. 1972
103	The Threshold of the twenty first century	Valentina Ivasheva Trans. Doris Bradbury And Natalie ward progress publishers Moscow 1978
104	The uncommitted Alienated youth in American society	Kenneth Keniston New York, Harcourt Brace of World 1965
105	Waiting for the Godot	Samuel Beckett
106	हिन्दी कहानी : अलगाव का दर्शन	डॉ० जॉर्डन चार्ल्स शेडरमल अक्षर प्रकाशन, नई दिल्ली 1982

पत्र - पत्रिकाएं

1. अनुवाद - शोध पत्रिका - अंक तीन - 1979
2. आलोचना - अक्तूबर-दिसंबर - 1968
3. कल्पना   नवंबर - 1966
4. लहर   - अप्रैल - 1970
5. सचेतना अंक - 1, जनवरी-मार्च 1975
6. सचेतना पूर्णांक - 54 सितंबर - 1980
7. सारिका   - जून 1964
8. सारिका   - फरवरी - 1975
9. सारिका   - मार्च - 1973